यों भी तो देखिए !

•

वियोगी हरि

•

१९५७

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक,

मार्तण्ड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

दूसरी बार : १९५७

मूल्य

एक रुपया २५ न० पै०

मुद्रक

उद्योगशाला प्रेस,

दिल्ली

प्रकाशकीय

श्री वियोगी हरि से हिन्दी के पाठक भली भाँति परिचित हैं। वह एक उच्चकोटि के लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक उन्हींके कुछ लेखों का संग्रह है। इन लेखों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये एक विशेष शैली में लिखे गये हैं। उन्हें पढ़कर पाठकों को सोचने के लिए वाध्य होना पड़ता है। कुछ रचनाओं में तो बड़ा ही तीखा व्यंग्य है। कवि, लेखक, कलाकार, चित्रकार, प्रचारक, राष्ट्रकर्मी, ग्रामोद्धारक, नेता, शासक, शिक्षक आदि-आदि को पृथक्-पृथक् संबोधन करके उन्होंने अपनी बात बड़े प्रभावशाली ढंग से कही है। लेकिन लेखक ने जो कुछ कहा है, उसके पीछे किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं है, बल्कि वह चाहता है कि हमारे समाज का प्रत्येक अंग, अपने स्वयं के जीवन से, एक आदर्श उपस्थित करे।

यह पुस्तक पाठकों को पर्याप्त विचार-सामग्री प्रदान करती है। इसका पहला संस्करण 'मेरी हिमाकत' नाम से प्रकाशित हुआ था, लेकिन उससे पुस्तक की मूल भावना का बोध शायद सही-सही ढंग से नहीं होता था। इसलिए उसे बदलकर 'यों भी तो देखिए' नाम रख दिया गया है।

हमें विश्वास है कि पुस्तक की लोकप्रियता पहले से भी अधिक होगी और हिन्दी-जगत् में इसका व्यापक रूप से प्रसार होगा।

—मंत्री

दो शब्द

इन लेखों में समाज के कतिपय धुरीणों का सीधा-सादा दर्शन भी मैंने व्यंग्यात्मक या तिरछे-टेढ़े दृष्टिकोण से किया है। रास्ता तो टेढ़ा-मेढ़ा पकड़ा, और गुस्ताखी कर बैठा सीधे लक्ष्य पर पहुँचने की !

परिष्कृत या अविकृत आखिर क्या होगा इस ऊहापोह ने ऐसी जगह उठाकर फेंक दिया, जहाँ, आशा यह है कि, यह दृष्टि शायद वाचालता का मुहँ बन्द करदे, और जीवन-शोध का शायद कोई नया ही दर्शन हो सके।

विज्ञापन ने 'असत्' को जो प्रतिष्ठा का ऊँचा पद दे रखा है, उसे देखकर तो कभी-कभी मन में एक प्रकार की सुखद निराशा का संचार होने लगता है। 'प्राचीन' अभी कलतक कितना महँगा आँका जाता था, उसे आज क्यों इतना सस्ता कर दिया गया है, यह प्रश्न न जाने किस बुरी घड़ी में उठा। 'अर्वाचीन' मीठा तो लगा, पर उस मिठास के अंदर जैसे कुछ तीखापन था। उससे भी व्यंजना को कुछ उत्तेजन ही मिला।

समझ लिया जाये कि अल्पसंख्यक व्यंग्य के लक्ष्य नहीं बन पाये। जान में या अनजान में वे सभी जगह बच जाते हैं। कौन-सा सिद्धान्त है, जिसमें कोई-न-कोई अपवाद दाखिल न हो जाता हो ? और इन्हीं कमबख्त अपवादों की बदौलत मानव-जीवन की मूल सात्त्विकता 'छुईमुई' में परिणत होने से बची है। उनकी स्तुति के लिए वैसी वाणी या लेखनी कहाँ से लाऊँ ?

इन व्यंग्यात्मक लेखों का संग्रह सन् १६४२ में 'मेरी हिमाकत' के नाम से प्रकाशित हुआ था। यह दूसरा संस्करण नये नाम से आ रहा है—'यों भी तो देखिए' इस नाम से। कहा जा सकता है कि यह दूसरी हिमाकत हुई, शायद कुछ ज्यादा साफ़; इसलिए कि जिस सीधी-सादी दृष्टि से देखने के लोग आदी रहे हैं, उसे थोड़ा ताक पर रखकर दूसरे ही दृष्टिकोण से देखने के लिए पूछा गया है।

बहुत-कुछ संशोधन कर दिया है—कई वाक्यों में, और जहाँ-तहाँ भाषा में भी। कुछ-कुछ कई जगह मैंने जहाँ कुछ जोड़ा-जाड़ा है, वहाँ पहले के कुछ वाक्यों और हिस्सों को काटा भी है।

हरिजन-निवास, दिल्ली
१५ अगस्त, १६५७

वियोगी हरि

विषय-सूची

यों भी तो देखिए !

कवि से

कवि ! सुना है कि तुम्हारे इस 'कवि' शब्द से मनीषी, परिभू, स्वयंभू आदि कितने ही ऊँट-पटाँग अर्थों का बोध कतिपय प्राचीनकालीन मस्तिष्कों से आविर्भूत हुआ था ।

और, इन सारे ही विचित्र, बल्कि अपमानद्योतक अर्थों को, जान पड़ता है, तब के कुछ अपरिपक्व कल्पनाधारी कवियों ने स्वेच्छा से ग्रहण भी कर लिया था ।

वह शायद वह युग रहा होगा, जब कि 'रस' पूरा पक या जम नहीं पाया था । रस का तब शायद एकदम तरल रूप रहा होगा ।

तो ऐसी अस्थिर अवस्था में वह कवि तब 'केवल कवि' कैसे हो सकता था ? तब का अप्रौढ़ कवि तो मनीषी, परिभू, स्वयंभू आदि अद्भुत नामधारी ही प्राणी हो सकता था।

यही कारण है कि उपनिषद्कारों को कवि कहते हुए तुम्हें संकोच होता है। 'रसो वै सः' का गीत गानेवाले अरण्यवासी प्रकृति-पूजकों को काव्य-रस के परिपूर्ण परिपाक का अनुभव भला कैसे हो सकता था ?

क्रौंच-वध से प्रेरणा पाकर वह वाल्मीकि भी अधिक-से-अधिक 'आदि-कवि' ही तो रहा; 'केवल कवि' न बन सका; क्योंकि उस प्रेरणा में कोई गहरा रहस्य तो अन्तर्निहित था नहीं।

उस प्रेरणा के मूल में तो कोरी करुणा ही थी,—रस की वही तरलता, वही अपरिपक्वता। और इसी कारण आदिकवि अपने काव्य को एक व्यक्त आदर्श के महिमा-गान के परे न ले जा सका। तुम्हारी व्याख्या के 'अव्यक्त' की अनूठी सृष्टि वह सामान्य लोक-कवि रच ही कैसे सकता था ?

फिर वाल्मीकि तो तपःसाधना करते-करते मिट्टी का ढेर बन गया था। ऐसे मिट्टी के ढेर मे से अलौकिक रहस्य-धारा का फूट निकलना संभव कहाँ था ? तभी तो आदर्श मानव की सामान्य-सी कल्पना के आगे बेचारा आदिकवि जा नहीं सका।

और इसी तरह, वह पुराण-व्यास भी लोक-संग्रह के फेर में पड़कर तुम्हारी अपनी परिभाषा का कवि न बन सका।

कवि तो इनके बाद प्रादुर्भूत हुए। प्रौढ़, पक्के और 'केवल कवि' इन-जैसों के पीछे ही प्रकटे।

हाँ, कवि तुम हो, और तुम 'केवल कवि' हो; आदर्श से तुम्हारा दूर का भी रिश्ता नहीं। मानव के प्रति तुम्हें कोई कर्त्तव्य नहीं, कोई बन्धन नहीं, लोक-संग्रह की कोई अपेक्षा नहीं।

बिना ही किसी निर्दिष्ट उद्देश्य के तुम शब्द-सृष्टि रचते रहते हो। भय है तुम्हें कि उद्देश्य और उपयोग के भद्दे मेल से कवि की अनूठी सृष्टि

कहीं दूषित न हो जाये।

जगत् के सामान्य प्रश्नों से तुम्हें कोई प्रयोजन नहीं; तुम्हारी कवि-सतह से वे प्रश्न बहुत नीचे हैं; उन्हें छूने का निरर्थक प्रयास करना कवि का कर्म नहीं। तुम्हारा 'काव्य-मानव' या 'अति मानव' तो खालिस कल्पनाओं का उड़न पुतला है। और कल्पनाएँ भी वे कैसीं? पारद की तरह तरल, शश-शृंग की भाँति अलौकिक।

विकास-शून्य उस पुराकाल में तब कदाचित् यह शोध हुई होगी, कि जिसकी वाणी से चारित्र्य परिशुद्ध होता हो, उसे ही कवि माना जाये।

तुम्हारे मत से तो यह व्याख्या और चाहे जिसकी हो, किंतु कवि की तो हो ही नहीं सकतीं। कारण, वह अपने कल्पित मानव में जब एक भी अशुद्धि नहीं देखता, तब उसे स्वकीय सृष्टि के मानव के चारित्र्य-शोधन की आवश्यकता ही क्या?

तुम्हारा काम तो मनोविकारों को उत्तेजित करदेना मात्र है। तुम्हें पसन्द नहीं कि मनोविकार योंही सोते रहें या शिथिल पड़े रहें। उनको तो तुम सतत जाग्रत और सक्रिय ही रखना चाहते हो।

अपनी शब्द-रश्मियों से कभी तो तुम काम-वृत्ति को सतेज कर देते हो, कभी लोभ-वृत्ति को और कभी क्रोध-वृत्ति को। तुम्हारी दृष्टि में शायद विकारोत्तेजन का ही नाम रस-परिपाक है।

मानना पड़ेगा कि तुम सोये हुए को जगा देते हो और जागे हुए को सुला देते हो। तुम्हारी ये दोनों ही प्रक्रियाएँ मनोरम हैं और भयंकर भी।

तुम्हारे काव्य-जगत् में पहुँचकर मनुष्य कैसा आकुल हो उठता है। अस्वाभाविक गति से हृदय उसका धड़कने लग जाता है। आँखों से या तो चिनगारियाँ छूटने लगती हैं, या उनपर खुमारी छा जाती है, या फिर उनसे पानी बहने लग जाता है। तुम उसकी कैसी सुन्दर अवस्था कर देते हो, कवि!

तुम्हारी कवि-दृष्टि में ऐसा उत्तेजित, विक्षिप्त, अस्वस्थ मनुष्य ही 'रसिक' कहा जाता है। ऐसा रसिक प्राणी तुम्हें अतिशय प्रिय होता है।

अरसिक अर्थात् सामान्य स्वस्थ मनुष्य का तुम मुँह भी नहीं देखना चाहते। अरसिकों के आगे कविता सुनाना तुमने किसी पूर्वकृत पाप का कुफल माना है।

तुम्हारी रुचिकर रचना सुनकर जो आत्म-विकल या अस्वस्थ नहीं हो जाता, उसे तुम पशु या पाषाण से भी गया-गुज़रा समझते हो।

सदा तुम काव्य-रसिकों की ही खोज में रहते हो। जब वैसा कोई गुणग्राहक मिल जाता है, तुम उसे अपनी एक के बाद एक कविता सुनाने लग जाते हो; वाणी तुम्हारी जैसे बाँध तोड़ देती है। तुम उसके चेहरे के उतार-चढ़ाव की ओर निरखते जाते हो कि वह तुम्हारे कविता-पाठ से मनोवांछित रस ले रहा है या नहीं। तुम्हारे जिस पद या पंक्ति पर वह मुग्ध हुआ प्रतीत होता है, उस सरस पद या पंक्ति को तुम उसे बार-बार झूम-झूमकर सुनाते हो।

उसके श्रीमुख से झरते हुए मादक शब्द क्या अफीम का काम नहीं देते हैं? तुम्हारे सामने एक अद्भुत चित्रपट-सा खड़ा हो जाता है,—तुम स्वप्न-सा देखने लग जाते हो कि तुम्हारी कविता सुशान्त वृद्धों के भी अंतर में यौवन-मधु का घोर संचार कर रही है, समस्त प्रकृति वासना-रस से उद्वेलित हो उठी है, अथवा भक्ति के रस-सागर में विश्व डूबता जा रहा है, या सारा उठा हुआ राष्ट्र विप्लव की प्रलय-ज्वालाएँ उगल रहा है और पुराने-धुराने समाज की काया अकल्पित वेग से पलटती जा रही है।

यही कारण है कि तुम अपनी नई-नई रचनाएँ सुनाने को सदा आकुल-व्याकुल रहते हो। कितने ही ज़रूरी काम से कोई कहीं जा रहा हो तुम अपनी एक-दो कविताएँ तो हठपूर्वक उसे रास्ते चलते-चलते भी सुना देते हो। कोई भी काल हो, कोई भी स्थान हो,यदि वह प्राणी रसिक है, तो उसका पिंड तुम कविता सुनाये बग़ैर छोड़ नहीं सकते।

और, तुम्हारे प्रशंसक भो तो प्रशंसा के पात्र हैं, जो तुम्हारी कविताओं में से ऐसे-ऐसे गूढ़ अर्थ निकाल लेते हैं जिनकी कदाचित् तुम्हेंभी

कभी कल्पना न उपजी हो। तुम्हारी अनावरण शृंगार-सृष्टि में वे कभी अध्यात्म का दिव्य दर्शन करते हैं, तो कभी क्रोध, द्वेष और अहंकार के उद्दीपन में स्वदेश-प्रेम का।

आश्चर्य तुम्हें होना ही चाहिए, जब तुम देखते हो कि जनसाधारण में ऐसी कविताएँ भी बड़े चाव से सुनी और गाई जाती हैं, जिनमें न तो कोई अनोखा भाव होता है, न अजीब-अजीब उक्तियाँ, और न अलंकार-युक्त सुललित भाषा ही, और जिनमें व्याकरणतक की टाँग टूटी होती है; छन्दःशास्त्र का पालन तो वहाँ गुनाह है। फिरभी ऐसी-ऐसी भद्दी चीज़ों अर्थात् लोकगीतों और संत-वाणी ने आम जनता में अधिक आदर पाया है ! पर ऐसी भौंड़ी कविताओं ने ज़्यादातर देहात के अनपढ़ लोगों को ही विमोहित किया है।

कवि ! ऐंसे लोगों की दुर्भाग्यपूर्ण अरसिकता को देखकर तुम्हें मन में हँसी ही आती होगी, जो उन साखियों और सबदों के अटपटे साँचे मे अपना सुन्दर सरस जीवन ढालना चाहते हैं। मन-ही-मन तुम कहते होगे कि बूढ़े विधाता ने उन ग्रामीणों को रस, कला और सौन्दर्य परखने की अक़्ल आखिर क्यों नहीं दी !

लेकिन ऐसी बात नहीं कि तुम रुष्ट होकर ग्राम्य जनता के जीवन को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हो। नहीं, कभी-कभी तुम्हारी कल्पना अपने सुनहरे परों से ग्राम्य जीवन का भी स्पर्श कर लेती है। मगर दुर्भाग्य उसका कि तुम्हारे सुकोमल मधुरस्पर्श का उसे भान भी नहीं होता। तुम्हारी ग्राम्य सुकुमार कल्पना उसे छूकर भी उससे सर्वथा अछूती ही रहती है।

वहाँ श्रम के गीत तो तुम गाते हो, पर उसे अपनाते नहीं; हल और खेत को तुम चितेरते ही हो, पर उसे जोतते-काटते नहीं; चरखे को तुम वाणी से पूजतेभर हो, उसपर कातते नहीं।

सिवा इसके कि वे जोतते या कातते हुए रचते या गाते थे, ग्राम-गीतों और भजनों में और खूबी ही क्या है ?

तारीफ़ तो इसमें है कि तुम बिना हाथ-पैर हिलाये, हृद्गत भावों के उफान से सद्यः प्रेरणा पाकर, नित्य नई-नई कविताएँ रचते रहते हो।

तुम ऐसा मानने से दृढ़तापूर्वक इन्कार करते हो, कि तुमसे और तुम्हारी कृतियों से दुनिया तृप्त हो गई है या ऊब गई है।

तुम्हारा कवि-कुल दिन-दिन अभिवृद्धि को प्राप्त होता जा रहा है, तुम्हारी नई-नई कृतियों के ढेर लगते जा रहे हैं,—इससे तो यही लगता है कि तुम्हें अबभी विराट् उत्पादन का अभाव प्रतीत होता है।

तुम्हारी राय में लोगों को कविता के मादक मधु का रसास्वादन ही अविराम गति से करते रहना चाहिए। तुम गाते हो कि कविता-श्रवण, कविता-पाठ और कविता-लेखन ही सृष्टि का एकमात्र उद्देश्य है।

तुम्हें धरती पर पैर घसीटनेवाले मानव का कुरूप पसन्द नहीं पड़ा, अतः तुम डालों पर फुदकने लगे और आकाश में विहरनेवाले सुनहरे पंखोंवाले विहग बन गये। श्रमजीवी मानव ईर्ष्यापूर्वक आश्चर्य करता है कि तुम कविता के रंग-बिरंगे पन्नों को फाड़कर उसके साथ पसीना क्यों नहीं बहाते !

मूढ़ श्रमजीवी वह तुम्हारी रहस्यपूर्ण साधना को क्या समझे। जब तुम रचना करने बैठते हो, उस समय की तुम्हारी ध्यानावस्थित या कभी-कभी विक्षिप्त-सी मुखमुद्रा देख बेचारा हकबका जाता होगा। तुम्हारी साधना यह सतत चलती है ; खड़े-खड़े, बैठे-बैठे और चलते-चलते भी तुम्हारी रचनाएँ नूतन जन्म ग्रहण करती रहती हैं।

तुम्हारी साधना की क़द्र न करनेवाले निश्चय ही नर-पशु हैं। श्रम-साधक, भला, रससिद्धों की असीम महिमातक कैसे पहुँच सकते हैं! कहाँ तो समृद्ध कलाकार, और कहाँ वे दरिद्र धान्यकार !

कवि ! तुम 'केवल कवि' हो इतना ही तुम्हारे स्तुति-गान के लिए पर्याप्त है।

कलाकार से

उस दिन एक पर्ण-तृण-शून्य टीले पर खड़ा-खड़ा मैं अपने इस औंधे घड़े को मौज में बजा रहा था। देखकर तुम्हारे कलाकार साथियों को उसमें कुछ कुतूहल-सा लगा। और वे लगे पूछने—"इस औंधे घड़े में तुझे ऐसा क्या सुन्दर दीखा, जो मस्ती में झूम-झूमकर तू इसकी खोपड़ी पर इस तरह कर्ण-कटु ताल दे रहा है ?"

जवाब था मेरा,—"भगवान् बुद्ध के संवादों के अन्त में प्रायः आता है न, कि 'जैसे औंधे घड़े को सीधा कर दिया' ? वाक्य यह वहाँ शंका-समाधान के अर्थ में दोहराया जाता था न ? मैं इस घड़े पर इसलिए अंगुलि-प्रहार करता हूँ कि सदा यह औंधा ही बना रहे—कभी सीधा न हो जाये। नहीं तो ज्ञान-संचारिणी सारी ही शंकाओं का एकदम समाधान हो जायेगा।"

शंका का समाधान या निवारण आखिर हो क्यों? कलाकारो! शंका के चिरअस्तित्व में ही तो तुम्हारी कला की सारी समृद्धि निहित है। शंका के श्मशान पर कला भला कभी फूली-फली है ?

शंका में जो अस्पष्टता होती है, उसमें जो वक्रता दीखती है, वही तो कला की जान है।

घड़े को यदि मैं सीधा करदूं, तो शंकाओं का विलय हो जायेगा, अस्पष्टता खुल जायेगी, वक्रता मिट जायेगी। स्पष्टता और सरलता की भित्ति पर फिर तुम्हारी यह कला एक क्षण भी न टिक सकेगी। अतः तुम्हारे हक़ में वह स्वागत की वस्तु नहीं। कला तुम्हारी आबाद रहे, इसीलिए मैं घड़े की औंधी खोपड़ी पर अंगुलि-ताड़न कर रहा हूँ। मेरी ऐसी कल्याणकारिणी प्रक्रिया को तुम अपनी कला के हित में बाधक समझ बैठे हो,—कितने आश्चर्य की बात है यह !

सुना था कि पोषण-प्रक्रिया में कला का स्पष्ट दर्शन होता है, पर मुझे तो उसका सम्पूर्ण दर्शन शोषण-प्रक्रिया में हुआ। जाड़े के दिनों में घी तुम घड़े में से टेढ़ी अँगुलियों से ही निकालते हो—सीधी अँगुलियों से कभी शोषण हुआ है ? अतः वक्रता में ही कला का पूर्ण विकास होता है।

समन्वय के इस युग में राजनीति और कला के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। रहा होगा कोई प्रागैतिहासिक युग, जब राजनीति तो एक अलग रास्ते जाती होगी, और कला किसी दूसरे रास्ते ही। तब शायद कला उपयोगितावाद के धूमिल दर्पण के सामने खड़ी होकर अपना अजीब-सा सौन्दर्य निहारती होगी। तब कला का अन्तर सरल-तरल रहा

होगा; प्रौढ़तम कलाविदों की भाषा में 'सड़ा-गला'। अतः कला तब भौंड़ी-सी ही रही होगी, आजकी-सी सुघर-सलौनी नहीं।

जैसे राजनीति में सीधे बात करना गुनाह है, वैसे ही कला में पेचीदा मार्ग से हटना बेढंगापन है।

उपयोगिता से तुम्हारी कलाओं का सदा असहकार-सा ही रहा है। तुम्हारा प्रश्न है कि सिगरेट के धुएँ का शून्य अन्तरिक्ष में समा जाना क्या कोई प्रयोजन रखता है? उपयोगिता क्यों टाँग अड़ाये धूम्र की निरुद्देश्य शून्य-पथ की अनन्त यात्रा में ?

उपयोगिता के पैरों से जो लोग ज़मीन पर सीधी-सादी गति से चलते हैं, उन्हें तुम्हारी कला के सुनहरे पंख उपहास की अँगुलियों से छुएँ तो किसीके नाराज़ होने की ऐसी क्या बात ?

कलाकारो! सामान्य जनसमाज पर तुम हरगिज़ रहम न खाना। पर वह तुम्हारा अपराधी साधारण समाज अपने ठोस पैरों को कैसे काट डाले ? और कैसे उगाले रुपहरे-सुनहरे पंख अनन्त अन्तरिक्ष-पथ पर रहस्यमयी उड़ान भरने के लिए ? यह भद्दा-सा मानव आखिर कैसे स्वप्न का स्वर्ण-विहग बन जाये ?

तुम्हें तो सभी कुछ टेढ़ा-ही-टेढ़ा चाहिए न? तुम्हारी स्थापत्य-कला में सैंकड़ों ही टेढ़े-मेढ़े प्रस्तर-खण्ड चाहिएँ। तुम्हारी चित्र-कला में मानव-आकृतियाँ टेढ़ी-तिरछी उलझी हुई ही होनी चाहिएँ। विधाता की सृष्टि में कला को सँवारते-सुधारते तुम कभी थकते भी नहीं। तुम्हारी काव्य-कला के लिए भी टेढ़े भाव और टेढ़े शब्द होने चाहिएँ। तुम्हारी ये ललित कलाएँ न सीधी हैं, न बिल्कुल गोल। उनमें अनेक कोण हैं, किसी-भी मोड़ से चाहे जो अर्थ-दर्शन किया जा सकता है।

तुम कलाकारों में से कोई-कोई जीवन जीने को ही कला मान बैठे हैं। किंतु जीवन कोई प्रकट-सी चीज़ तो है नहीं। अथवा, उसे कला के टेढ़े-मेढ़े साँचे में ढालकर जटिल बना दिया गया है।

कहते हैं, विश्वामित्र ने अपनी एक अलग ही सृष्टि रच डाली थी।

तुम कलाकारों ने भी तो अपनी निराली सृष्टि रची है, और तुम्हारे कल्पना-गर्भ में अबभी कितनी ही अभिनव सृष्टियों के बीज छिपे पड़े हैं। विश्वामित्र की सृष्टि की कुछ वस्तुएँ, कहते हैं, आजभी विकृत अवस्था में देखने में आती हैं। नारियल शायद उसी सृष्टि-संस्करण का एक अवशेष है, और वह खासा उपयोगी है। मानव ही नहीं, देवता भी उसे लालचभरी दृष्टि से देखते हैं। पर तुम्हारी सृष्टि का अवशेष वैसा भी कोई देखने में नहीं आया। अनन्त अन्तरिक्ष में विहार करनेवाले ये धुएँ के फव्वारे अजन्ता की जीर्ण दीवारों पर विचित्र अँगुलियों का भले ही इन्द्रजाल बुना करें, किन्तु जटा-जूटधारी ऋषिकल्प नारियल ने अपना जो स्थान नर-समाज एवं देव-समाज में स्थापित कर रखा है, वह तुम्हारे उलझानेवाले इन धूम्रजालों की अँगुलियों या निर्देशों में नहीं मिलता।

कुदाली-फावड़े की उछल-कूद को भी तुमने कभी कोई कला माना है ? तुम्हारी दृष्टि मे हल का चित्रांकण कला-कृतियों में प्रतिष्ठा का स्थान नहीं पाता,—यद्यपि मज़दूर और किसान की पथरीली छाती पर सवार होकर तुम्हारी ललित कलाएँ कभी-कभी 'ग्रामों की ओर' भी एकाध चक्कर काट आती हैं।

कभी किसी युग में गाया जाता था—'सत्यता में सुन्दरता देखो; सरलता में सुन्दरता देखो; प्रामाणिकता में सुन्दरता देखो।'

सुन्दरता का रूप-दर्शन अपनेसे बाहर कब करते थे तब ? सुन्दरता तब शायद नीति की कोई सखी-सहेली रही होगी।

पर आज तो कला के मनोमोहक द्वार पर नीति वह एक अपरिचिता-सी, अजनबी-सी खड़ी है। तुम्हारी कला इस अजनबी मेहमान का आतिथ्य करेगी, या शून्य-पथ में ही निरुद्देश्य चक्कर काटती रहेगी ?

किंतु यह तो शंकाओं का समाधान होने-जैसी बात हुई। तुम्हारी दुनियाँ में तो घड़े का औंधा रहना ही अच्छा है, कलाकार !

चित्रकार से

चित्रकार! तुम्हारी इन सुकुमार लचीली अँगुलियों में सचमुच गजब की शक्ति है; और इनका सदुपयोग भी तुम उदारतापूर्वक अधिक-से-अधिक कर रहे हो।

तुम्हारी इन कुशल अँगुलियों ने दृश्य का, कल्पना का और कला का यह अत्यन्त आकर्षक जाल बुना है। तुम्हारे इस जाल में आ फँसने के लिए अच्छे-अच्छे नेत्रवान प्रतिस्पर्धा करते हैं।

प्रतिकृति में तुम वास्तविक आकृति को अनूठी कुशलता से उतार देते हो, बल्कि कभी-कभी तो अपनी निर्मित प्रतिकृतियों को ही तुम वास्तविक समझ बैठते हो; अथवा अवास्तविक के आगे वास्तविक को भी तुम भूल जाते हो ।

वास्तविक जगत् को सचमुच तुम चित्र-पट्ट के आगे कोई खास महत्त्व नहीं देते; तुम्हारी दृष्टि में कला का फलितार्थ भी वस्तुत: यही है।

कुछ क्षणों के लिए जगत् के रंग-बिरंगे विविध दृश्यों के साथ अवश्य तुम्हारा तादात्म्य हो जाता होगा । तूलिका द्वारा काग़ज़ पर उतारकर उन्हें तुम भूल जाते हो । तुम्हारी इस अनासक्त योग-साधना का जितना भी बखान किया जाये, थोड़ा है ।

टेढ़ी-सीधी रेखाओं और रंगों में तुम कुछ ऐसे तन्मय और तदाकार हो जाते हो कि दुनिया की गति-विधि का तुम्हें भान भी नहीं रहता । वर्षा के अभाव में खेत जब सूखते-झुलसते होते हैं, तब रमणीय उद्यानों और सरोवरों के सुन्दर दृश्य चित्रित करने में तुम ध्यानस्थ रहते हो । या, वे झोंपड़ियाँ जब धायँ-धायँ जलती होती हैं, तब तुम अजंता या ताज-महल के चित्रांकण में समाधिस्थ हो जाते हो ।

कुछ भी हो, कला की उत्कृष्ट साधना तुम्हारी निर्वाध गति से सतत चलती ही रहती है । कारण, तुम्हारी कला वह केवल कला के लिए होती है; स्थूल जगत् के साथ तो उसका धुँधला-सा केवल चित्रगत ही सम्बन्ध रहता है ।

तुम्हारे कला-दर्शन में सामान्य आँख काम नहीं देती । तुम कहते हो कि पूरी खुली आँखों से कला का यथार्थ दर्शन नहीं होता, अतः पलकों को अवश्य आधा गिरा देना चाहिए—अर्द्धोन्मीलित आँख ही वहाँ अधिक काम देती है । पर शायद यह भी एक ख़याल ही है । असल में, कला-दर्शन की आँख तो कुछ और ही आकार-प्रकार की होती होगी ।

देखा है कि सामान्य मानव की खुलीं या अधमुंदी आँख को तुम्हारे

चित्र की आड़ी-टेढ़ी रेखाएँ विचित्र-सी ही दीखती हैं। तुम्हारी रहस्य-मयी कला की क़द्र करनेवाले जिस आकृति को सुन्दर और आकर्षक कहते हैं, सामान्य आँख को वह विरूप और अटपटी-सी दिखाई देती है। उस आश्चर्यविमूढ़ दर्शक के मन में होता है कि उसके सजातीय मानव की आँखें किसी युग में ऊपर को तनी हुई या नीचे को गिरी हुई होती होंगी। उसे चित्र के मानव की नाक भी कुछ अजीब-सी दीखती है। उसकी पतली-टेढ़ी अँगुलियों की उलझन तो उसकी समझ में कभी आई हीं नहीं। असल में, तुम्हारे चित्र का असली मानव कुछ भिन्न-सा ही होता है।

और, अब तो तुम प्रकृति के एकदम समीप जा पहुँचे हो। चित्रों को निरावरण बना-बनाकर मानव को तुम फिर उसकी उसी मूल प्रकृति की ओर ले जा रहे हो, जो विकास के फेर में पड़कर संस्कृति की भूल-भुलैयों में कहीं-से-कहीं भटक गया था।

आश्चर्य है कि सामान्य दर्शक को, जो निश्चय ही अरसिक होता है, तुम्हारी रची नग्न आकृतियों में अश्लीलता की गंध आ रही है। किन्तु धन्य है तुम्हारी प्रकृति-उपासना, कि तुम उस दर्शक की अनधिकारपूर्ण आलोचना पर ध्यान नहीं दे रहे!

आश्चर्य होता है तुम्हें कि प्रकृति और पुरुष को, पुराकाल के दार्शनिकों की भाँति, तुम यदि 'निरावरण' मानते हो, तो उसमें किसीको अश्लीलता की गन्ध क्यों आये?

फिर नर और नारी की आकृतियाँ आकाश की तरह शून्यरूप तो हैं नहीं, जो उनपर रंग-बिरंगे बादलों की भाँति आवरण छाकर शोभा दें।

तुम्हारी यह शोध बिल्कुल सही है कि कलाशून्य दृष्टि ही अश्लीलता-दर्शन के चक्षु-रोग से पीड़ित रहती है। दूषित दृष्टिवालों को इतना अधिक मतिभ्रम हो जाता है कि वे वास्तविक सुरा और वास्तविक सुंदरी में भी अध्यात्मतत्व देखने का उपहास्य प्रयत्न करने लग जाते हैं।

इसी प्रकार तुम मानते हो कि नीति तो प्राकृत अवस्था के पूर्व की एक अधकच्ची-सी कल्पना है,—और यही कारण है कि तुम्हारे किसी-किसी प्रकृति-मूलक चित्र में निरावरण अवस्था की खासी कलापूर्ण अभिव्यक्ति अन्तर्निहित रहती है।

तुम्हारी तन्मयता की सराहना कहाँतक की जाये ! कभी-कभी तो यहाँतक देखा गया है कि काग़ज़ या पट्ट की ओर तुम देखते भी नहीं, तुम्हारी दृष्टि आकाश की ओर स्तब्ध होती है, और पेंसिल तुम्हारी योंही प्रकंपन किया करती है, किन्तु पट्ट पर तुम्हारे अंतस्तल की भाव-रेखाएँ आप-ही-आप खिच जाती हैं। तुम्हारे प्रशंसक कहते हैं कि अज्ञातरूप से खिची हुई उन अद्भुत रेखाओं की अव्यक्त-सी कला अत्यन्त उच्चकोटि की बन पड़ी है।

सामान्य आँखें उस चित्रकला को देखकर हँस पड़ती हैं,—ऐसा दीखता है, मानों किसी अबोध चंचल बालक ने काग़ज़ और रंग को यों-ही छेड़ दिया हो।

उस उत्प्रेक्षा को तो तुम स्वीकार करते हो, पर ज़रा दार्शनिक ढंग से। तुम कहते हो कि कला ऐसी निर्दोष एवं निरावरण होनी चाहिए, जैसी कि बालक की सरल अबोध अवस्था।

तुम शायद उस अस्पष्ट चित्रकला का इस उपमा से भी समर्थन कर दोगे कि मस्तिष्क के अन्दर भी तो इसी प्रकार की अनगिनती आड़ी-टेढ़ी लकीरें खिची हुई हैं, पर उनमें से अनंत ज्ञान किस क़दर प्रवाहित होता रहता है।

कभी तो तुम बहुत हलके और बहुत फीके रंगों से काम लेते हो, और कभी खूब गहरे और चटकीले रंगों से; मगर वैज्ञानिक संमिश्रण के सन्तुलन को तुम इन दोनों ही प्रकारों में पैठकर साबित कर देते हो। रंगों के तुम्हारे विविध संमिश्रणों को हर कोई समझ भी तो नहीं सकता; क्योंकि प्रत्येक संमिश्रण में तुम्हारी अपनी शुद्ध मान्यता के अनुसार अलग-

अलग रहस्य अन्तर्निहित होता है ।

राजनेता के आगे राजनीतिक गुत्थियों का, तथा तत्ववेत्ता के सामने दार्शनिक विवादों का जो निश्चित मूल्य होता है, उससे कहीं अधिक निर्दिष्ट मूल्य तुम्हारे समक्ष रेखाओं और रंगों की विषम समस्याओं का रहता है ।

अति प्राचीन काल के कुछ हिमायतियों का कथन है कि तब की चित्रकला वह बहुत अधिक लोक-व्यापक थी, और उपकरण भी उसके अत्यन्त सरल और सुलभ थे । घर-घर स्त्रियाँ पत्तों के रस और गोबर व मिट्टीतक से चित्र चितेर लिया करती थीं । कोई-कोई तो तीनों लोकों के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुरुषों तथा अनदेखे दृश्यों के चित्र भी खींचकर रख देती थीं ।

तब ऐसा शायद हुआ भी हो, पर उन गोबर-मिट्टी के चित्रों के पीछे न तो कोई विज्ञान था, न कोई साहित्य ।

उस युग का चित्रकार कुछ वैसा ही रहा होगा जैसा कि तब का कवि । वैज्ञानिक कसौटी पर न तो तब का कवि कसा गया था, और न चित्रकार ही ।

उनकी अँगुलियाँ रेखाओं को केवल खींचना जानती थीं, सोच-सोच-कर उन्हें सँवारना नहीं । उनके पास रेखाओं को मिटाने का शायद तब कोई साधन भी नहीं था । चित्र-रेखाएँ तो तुम्हारी बिल्कुल सही बनती हैं, क्योंकि रबर से तुम उन्हें बारबार मिटाना जानते हो । तुम अपना निश्चय अनेक अनिश्चयों के बाद बनाते हो, यही तो तुम्हारी कला-कुशलता है ।

कहते हैं, जिस चित्र को तुम पूरा नहीं कर पाते, उसे कवि पूरा कर देता है, और जिसे कवि अधूरा छोड़ जाता है, उसे तुम पूरा कर देते हो । तुम दोनों इसी कारण एक दूसरे की अभिनव किन्तु अपूर्ण सृष्टि के परिपूरक हो ।

तुम दोनों के उपास्य देवता भी प्रायः एक-से ही रहे—राजा और

नारी, और इन्हीं दोनों का सांगोपांग साहित्य। अच्छा हुआ कि साधारण जनसमाज पर तुम दोनों की पैनी दृष्टि नहीं पहुँची,—यद्यपि कभी-कभी कवि ने अपनी लेखनी से और तुमने अपनी तूलिका से उसके भी कुछ चित्र मनोरंजनार्थ खींच डाले।

मगर उन चित्रों से न तो राजप्रसादों की ऊँची-ऊँची दीवारें अलंकृत हुई, न सुसंस्कृत नागरिकों की वाणी ही।

तुम्हारे इस साधुस्वभाव की कौन सराहना नहीं करेगा चित्रकार, कि तुमने अपने कलात्मक अन्तर में कभी द्वेष या प्रतिहिंसा को स्थान नहीं दिया ? 'कैमरा' अचानक वज्र की तरह ऊपर से गिरा और उसने तुम्हारी नाजुक अँगुलियों और रंगीली तूलिका को चूर-चूर कर दिया, पर अपनी आँखों के ही आगे अपनी ललित कला का सर्वनाश देखते हुए भी उसके विरुद्ध तुमने कभी एक शब्द भी मुहँ से नहीं निकाला; फोटोग्राफी को तुमने कभी दानवी के रूप में चित्रित नहीं किया।

एक और स्तुत्य कार्य तुमसे बन पड़ा है। दूसरों के लिए तुम्हारी कला भले ही उपयोगी न हो—यद्यपि यह बात सत्य नहीं—पर तुमने अपने खुद के लिए तो उसे उपयोगी बना ही डाला है। तुम मानते हो कि यदि कवि की कला को मुनाफे का पेशा बनाया जा सकता है, तो चित्रकार की कला को क्यों नहीं ? यह कैसे हो सकता है कि जो चीज़ मनोरंजनार्थ हो, वह अर्जनार्थ न हो ?

जब बढ़ई लकड़ी छील-छालकर कमा लेता है, दर्जी सिलाई करके, नाई दाढ़ी मूँड़कर और किसान हल चलाकर पैदा करता है, तब चित्रकार और कवि पर ही उपार्जन का निर्दय प्रतिबन्ध क्यों लगाया जाये? और फिर उस हालत में, जबकि बढ़ई, दरजी, नाई और किसान के पेशों से चित्रकार और कवि का पेशा मानव-जीवन के हित में कहीं अधिक मूल्यवान् और आवश्यक है।

लेखक से

तुम हमेशा ही कुछ-न-कुछ साधारण या असाधारण लिखने के लिए आखिर इतने अधिक व्याकुल क्यों रहा करते हो ? क्या तुम्हें कुछ ऐसा लगता है कि तुम अपनी लेखनी द्वारा अपूर्ण जगत् में अवश्य अधिक-से-अधिक सम्पूर्णता भर दोगे ?

तुम्हारे शब्दों में क्या सचमुच इतनी भारी प्रेरक शक्ति भरी पड़ी है कि वह अपूर्ण को पूर्ण की ओर खींच-खींचकर ले जाये और असुन्दर को सुन्दर में परिणत करदे ? कदाचित् हो, किंतु पूर्णता और सुन्दरता की परिभाषा वह स्वयं तुम्हारी अपनी ही कल्पना की होगी। उससे तुम्हारे सीमित कर्त्तृत्व को शायद कुछ सन्तोष भी मिल जाता हो।

और, सबकी तरह सामान्य बने रहने में शायद कुछ ग़लती है; सामान्यतः जीवन का विकास होने देने में शायद कुछ हर्ज है; शायद उसमें कुछ कम साहित्यिकता है। तुम्हारे असामान्य शब्द-सृष्टा बनने के प्रयास में जीवन-कला यदि रूठ जाये, तो वह एक बहुत बड़ी भूल होगी। कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि तुम्हारे इस प्रयास से जगत् का हित-साधन तो होता नहीं; तुम्हारा खुद का भी अहित ही होता होगा।

क्या तुम्हें ऐसा महसूस होता है कि तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज़ देने को है कि यदि वह न दी गई, तो सारी दुनिया पर सूनापन छा जायेगा ? दिल और दिमाग़ पर विचारों का जब इतना बड़ा बोझ रखा हुआ है, तो उसे बिना बोले या बिना लिखे कैसे हलका कर सकते हो ? सही है कि जो विचार सामान्य व्यक्ति को भाररूप प्रतीत नहीं होते, वे असामान्य बनने की चेष्टा करनेवाले तुम लेखकों को बुरी तरह बेचैन कर देते हैं। सामान्य लोगों के सामान्य विचार उनके जीवन से झटपट लिपटकर तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं; यह नहीं कि तुम्हारी तरह विचार-संपत्ति जीवन से नाता तोड़कर एक बोझा बन जाये। लेकिन उस बोझ को हलका करने का तुम्हारा यह तरीक़ा भी बड़ा सुन्दर है।

कभी-कभी प्रश्न उठते हैं कि तुम ढेरों विचार सोचते हो, और ढेरों लिखते हो, पर उनमें से सार-तत्त्व कितना निकलता है ? प्रश्नकारों की समझ में नहीं आता कि वह तुम्हारा कोई व्यापार तो है नहीं कि उसमें से कुछ लाभ निकाला जा सके। और फिर तुमने तो गणित से हिसाब लगाकर देख ही लिया होगा कि कागज़, क़लम और स्याही की जितनी अधिक खपत बढ़ी है, उसके मुकाबले जीवन को 'जीवन' बनानेवाले ज्ञान में कितनी अधिक वृद्धि हुई है। ज़रा जिनके आँख हो वे देखें कि परस्पर के विश्वास और प्रेम ने तुम्हारे निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर कितनी अधिक प्रगति की है; सत्य की कितनी अपनी तमाम किरणें तुम्हारी वाणी और तुम्हारी लेखनी ने तुम्हारी प्रवृत्तियों पर ला बिखेरी हैं। तुम्हारी रचनाओं ने अँधेरी दुनिया पर एक नया प्रकाश फैला दिया है। निस्सं-

देह, तुमने जीवन-प्रकाश का अभाव अनुभव कर दुनिया को साधारण तल से ऊँचा उठाने की गरज़ से ही लेखनी पकड़ी है। क्या हुआ कि तुम्हारी अपनी दुनिया रेलगाड़ी के डिब्बे की तरह है, और प्रकाश केवल उसीके अंदर क़ैद है, बाहर उसके दूर-दूरतक घोर अँधेरा काले-काले पर फैलाये बेतहाशा दौड़ रहा है ! तुम्हारे इस दावे में ज़रा भी ग़लती नहीं कि तुमने जगत् को महान् प्रकाश दिया है। मगर जगत् यह कैसा कृतघ्न है कि मानता ही नहीं कि वह तुम्हारे शून्य शब्द-प्रकाश से ही आलोकित हुआ है !

आश्चर्य है कि इतने तमाम सन्देश, इतने सारे लेख विविध विषयों पर तुम्हारे सामने सदा अंजलिबद्ध खड़े रहते हैं। हर किसीकी अभि-रुचि को सन्तोष-दान देने की इस कला में तुम कितने निष्णात हो ! तुम्हारा यह व्यवसाय कैसा सरस है कि इससे तुम्हें कभी असन्तुष्टि या आत्म-ग्लानि नहीं होती।

तुम्हारे धंधे की दुनिया मे जब उचित क़द्र नहीं होती, तब तुम्हारा शिकायत करना सर्वथा उचित है। जनता पर तुम कितना बड़ा अहसान करते हो, फिरभी वह तुम्हारी क़द्र नहीं करती ! तुम जो क़लम घिसते-घिसते भी भूखों मरते हो, और ऋणग्रस्त भी रहते हो, इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिसे तुम साहित्य-साधना का नाम दिये बैठे हो, उसे अरसिक जनता शायद एक व्यर्थ का धन्धा समझती है। अपने-अपने काम-धन्धों में लोग ऐसे मगन हैं कि तुम्हारे अहसानमन्द होने और तुम्हारी पूजा-प्रतिष्ठा करने की भी उन्हें एक घड़ी की फुर्सत नहीं !

तुम कल्पनाओं का कैसा सुन्दर हवाई मार्ग बना रहे हो, जब कि वे लोग आवागमन की सामान्य सड़क बनाने में लग रहे हैं, और वे तुम्हें भी बुलाते हैं कि उनके साथ तुमभी कंकड़ तोड़-तोड़कर उसपर बिछाओ और पानी और मिट्टी डाल-डालकर उसे दुरमट से कूटो !

तुम्हारे लिए वे कोई 'निधि' भी तो स्थापित नहीं कररहे। कहते हैं कि क़लम पकड़ते-पकड़ते लेखकों के हाथ क्या इतने कमज़ोर और निक-

म्मे हो गये हैं कि उनसे घास की दस पूलियाँ भी नही कटतीं ? दस-पाँच दरख्त भी नहीं सींच सकते वे ? क्या आजतक उन्होंने जगत् को भ्रांत और जड़ बनाना ही सीखा ? इसे उनकी घोरतम अरसिकता न कहें तो फिर क्या कहें ?

तुम्हारे खिलाफ शिकायत है कि अगर रहँट, कोल्हू या चक्की चलाने के लिए तुम्हारी छाती समर्थ नहीं, तो फिर समाज और देश का भारी भार वहन करने का तुम्हारा यह शाब्दिक दावा सार्थक कैसे ? तबतक ऐसी ऊलजलूल बातों का जवाब न देना ही अच्छा है, जबतक कि तुम मानते हो कि जो कुछ तुम लिखते हो उससे प्रभावित होनेवाले लोगों की दुनिया में बहुत बड़ी संख्या है।

जैसे आपस में कुशल-क्षेम पूछा जाता है, उसी तरह जब तुम किसी सजातीय साहित्यकार या लेखक से मिलते हो, तो तुम उससे और वह तुमसे सहज पूछता है, 'कहिए, आजकल क्या लिखा जा रहा है?' तुम्हारे समाज में लिखना मिजाज-पुर्सी की तरह आवश्यक और सहज-सा बन गया है।

तुम्हारी इस लेखनप्रियता ने तुम्हें सामान्य से अलग-थलग और असामान्य से बहुत दूर फेंक दिया है, और यह तुम्हारे हक़ में अच्छा ही हुआ।

तुम्हारा 'स्वान्तः सुखाय' लिखने का दावा भी बड़ा सुन्दर है। वे लोग अपने आपको सुखी बनाना भला क्या जानें, जिनके हाथ क़लम और स्याही से हमेशा अछूते रहे हैं, और जो श्रम और सन्तोष के संपर्क में आकर अपनी बहती हुई जीवन-धारा को सामान्य मनुष्य की तरह प्यार करते रहते हैं !

तुम्हारा यह कहना बिल्कुल दुरुस्त है कि 'स्वान्तः सुख' जबकि स्वयं-तृप्ति का सहज परिणाम है या मूकत्व का प्रसाद है, तब उसके लिए कुछ-न-कुछ लिखने की तो खास तौर पर जरूरत है।

पत्रकार से

पत्रकार ! नये-नये समाचारों के तुम महज़ प्रसारक और प्रचारक ही नहीं, उनके सहज उत्पादक भी तो हो। अद्भुत है तुम्हारे उपजाऊ मस्तिष्क और प्रगतिशील लेखनी की सृजन-शक्ति ! प्रशान्त वातावरण को तुमने सदा उपेक्षा, उपहास और घृणा की नज़र से देखा है; उसमें सनसनी पैदा कर देने के लिए तुम सदा अधीर और व्याकुल रहते हो।

तुमने कुछ अजब मोहिनी डाल रखी है। अखबारों के उपासकों को तुम्हारे उपजाऊ दिमाग़ से पैदा हुई नई-नई कृतियों का दर्शन जबतक नहीं हो जाता, उन्हें अपना जीवन और जगत् सूना-सूना और नीरस ही लगता है। अखबार-वाहक को द्वार खट-खटाने में ज़रा-सी भी देर कभी हो गई, तो उपासकों की बेचैनी कुछ-कुछ वैसी ही देखने में आती है, जैसी कि धूम्र-पान करनेवालों को सुबह-सुबह बीड़ी-सिगरेट न मिलने

पर होती है। बड़े-बड़े शहरों में तो वे ब्राह्ममुहूर्त से ही अखबार की मांगलिक उपासना करने बैठ जाते हैं। सबसे पहले वे तुम्हारे बड़े-बड़े शीर्षक-सूत्रों का पारायण करते हैं। देखते हैं,—आपस में लोग कहाँ-कहाँ लड़-मरे; कहाँ पर भीषण दंगा हुआ; कहाँ रेलगाड़ियाँ भिड़ीं; कहाँ जहाज़ डूबा या कोई वायुयान गिरा; कहाँ अग्नि-कांड हुआ; कहाँ कैसी उथल-पुथल हुई !

तुम खोज-खोजकर देते भी ऐसे ही समाचार हो। तुम पत्रकारों की दृष्टि में अमंगल ही सृष्टि का आदि है, और अमंगल ही उसका अन्त। बर्बर-युग का मनुष्य ब्राह्ममुहूर्त में मंगल उपासना किया करता था। आजका सभ्य मानव तुम्हारे घोर प्रयास से अमंगल की आराधना करने लगा है। उसके रूढ़िप्रिय मानस में तुमने यह ग़ज़ब की क्रान्ति पैदा करदी है।

तुम चाहते हो कि दुनिया में सदा उथल-पुथल ही होती रहे; मेदिनी यह प्रतिक्षण काँपती ही रहे। स्थिरता या शान्ति को तो तुमने मृत्यु का पर्याय माना है, जबकि अस्थिरता या अशान्ति को जीवन का प्रतिरूप।

सामान्य बुद्धि को तुमने कुछ ऐसा मोह लिया है कि उसपर अब दूसरा कोई रंग ही नहीं चढ़ता। तुम्हारी बात को 'ब्रह्म-वाक्य' माना जाता है। सारी रात भले ही मूसलधार वर्षा हुई हो, पर किसी दैनिक-पत्र के प्रभात-संस्करण मे वर्षा का उल्लेख न आया हो, तो गीला आँगन देखकर भी हम यही कहेंगे कि हमारी आँखें ही धोखा दे रही हैं !

अधिकांश जनसमूह को तुमने अपने कौशल से क्या खूब भुलाया है, कि तुमने किसी खास उद्देश्य या असाधारण आदर्श से प्रेरित होकर अख-बार निकाला है। किन्तु तुम्हारे मूल उद्देश्य का ठीक-ठीक अर्थ कितने पढ़नेवालों ने लगाया होगा ? विज्ञापन के योगक्षेम का सम्यक् दर्शन भला कितने वाचकों को होता होगा ?

तुम्हारे अखबार की एक-एक पंक्ति प्रामाण्य समझकर पढ़ी जाती है। पढ़नेवालों की मंद बुद्धि निर्णय कर ही नहीं सकती, जबकि एक कॉलम में तो ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-संयम की स्तुति देखने में आती है,

और ठीक वहीं उसके सामने ही उत्तेजक औषधियों का सुरुचिवर्द्धक विज्ञापन दृष्टिगोचर होता है ! एक तरफ़ वे गुड़ की महिमा का लेख देखते हैं, तो वहीं दूसरे कॉलम में गुड़ को उपहास-पात्र बनाया जाता है ! पढ़नेवाला वह किसे तो त्यागे, और किसे ग्रहण करे ? लेख में तो दातुन का गुण बखाना जाता है, पर विज्ञापन में बालों की झाड़ू से दाँतों को बुहारने की सिफ़ारिश की जाती है ! एक जगह ग्रामीण चर्मकार की दुर्गति का चित्रण, तो दूसरी तरफ़ 'बाटा' के जन-सेवक जूतों का आकर्षक विज्ञापन !

तुम्हारे अखबारों का उदर कितना विशाल है ! कैसे भी विज्ञापन आये हों, भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये बग़ैर अपने विशाल उदर को वे प्रति-क्षण भरते ही रहते हैं। चित्रपटों का विज्ञापन तो उनका 'सर्वविटामिन-युक्त' आहार है। स्वच्छन्द संस्कृति और बन्धन-मुक्त चारित्र्य का अभि-वर्द्धक सिनेमा जहाँ तुम्हारे अखबारों की नसो में नित्य नूतन रक्त-संचार करता है, तहाँ अखबार भी सिनेमा को जीवन-दान देते हैं।

श्रद्धालु दुनिया को तुम बड़े कौशल और साहस के साथ निर्वाण-पथ की ओर ले जा रहे हो। और तुमने कुछ ऐसा सम्मोहित कर रखा है कि उसे इस महायात्रा का पता भी नहीं चला। उसकी दृष्टि में तुम ज्ञान-विज्ञान के संचारक और दिव्य संदेशों के अभूतपूर्व वाहक जो ठहरे।

जब तुम कोई नई पत्रिका या पत्र निकालना चाहते हो, तब तुम्हारे घोषित उद्देश्य और दावे देखते ही बनते हैं। धरा-धाम पर स्वर्ग का राज्य उतार देने का दावा किया जाता है। तुम मान लेते हो कि समाज में जैसे जीवन रहा ही नहीं, और तुम उसमें जीवन-रस उँडेल दोगे। ऐसी आकाश-वाटिका पर विमोहित हो जाना अस्वाभाविक भी नहीं।

तुम्हें हमेशा दूर की ही सूझती है; तुम्हारा ज्ञान दूर-दूर के देशों का ही होता है, सब कुछ विराट्-ही-विराट्। पास की चीज़ तुम्हारी नज़र से ओझल रहती है, छोटी-छोटी बातों पर तुम ध्यान नहीं देते। चिन्ता तुम्हें समूचे राष्ट्र की ही नहीं, अखिल विश्व ब्रह्मांड के कल्याण की रहती है!

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीतियों और समझौतों की बारीकियों पर तुम बहस करते थकते नहीं। पर ऐसी छोटी-छोटी बातों का तुम्हें पता नहीं रहता कि तुम्हारे घर के चूल्हे में जो लकड़ियाँ जलती हैं, वे बाज़ार से क्या भाव आती हैं, और भिंडी आजकल आलू से सस्ती है कि महँगी!

दूर-दूर के शहरों की गलीज़ बस्तियों पर दुनिया का ध्यान खींचने के लिए तुम असर उँडेलनेवाली टिप्पणियाँ लिखते हो, किन्तु सम्पादकीय कमरे के सामने ही जो कूड़े-कचरे का ढेर लगा हुआ है, और पिछवाड़े भंगियों की जो स्वर्ग-विनिंदित बस्ती है, वहाँ भी तुम्हारी सूक्ष्म समर्थ दृष्टि ने क्या कभी चक्कर लगाया है ?

संघर्ष का ज़हर फैलाये बग़ैर किन्हीं अन्य साधनों से अर्जन करना तुम्हें स्वभावतः पसन्द नहीं। अपना और अपने पत्रों का अस्तित्व क़ायम रखने के लिए जगत् में विष-बीज बोते हुए क्या तुम कभी थके हो ? क़ौम-क़ौम के दर्म्यान, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच तुम द्वेष और संघर्ष नगण्य स्वार्थ की खातिर खड़े कर देते हो—तुम्हारा उपार्जन का यह तरीक़ा सचमुच कितना सात्विक है !

तुम्हारे सप्राण अनुभवों और मूक साधना ने तुम्हें इतना अधिक व्याकुल कर दिया है कि तुम सोचते हो कि अगर अखबार न निकाला गया तो तुम्हारे विचारों का लाभ उठाये बग़ैर दुनिया कहीं डूब न जाये।

अखबार जहाँ नहीं पहुँचते, वहाँ शायद घोर अन्धकार आच्छन्न रहता होगा; दूर-दूर की बातों से लोग बेखबर रहते होंगे, अपने नज़दीक-वालों को भले ही वे ठीक-ठीक पहचानते हों। दुर्भाग्य से क्योंकि उन अज्ञान-ग्रस्तों की आँखें उनकी 'अपनी' होती हैं, 'अखबारी' नहीं।

सन्देह नहीं कि पाँच-सात वर्ष के लिए अखबारों को यदि पूर्ण विश्राम दे दिया जाये, तो ज्ञान का पवित्र आघात न पड़ने से विश्व-कल्याण का स्रोत एकदम बन्द हो जायेगा।

प्रचारक से

दुनिया आज तुम्हारी बहुत-बहुत कृतज्ञ है। प्रचारक! तुम्हारी अन्तः-प्रेरिका विविध सेवाओं को भला कौन अमान्य ठहरा सकता है? प्रत्येक-क्षेत्र के तुम मानों गन्धवाही पवन हो।

प्रचार करते समय तुम कभी विचार के प्रकारों पर ध्यान नहीं देते। सुगन्ध और दुर्गन्ध में पवन कब भेद करता है? उसका कार्य तो गन्ध का मात्र वहन करना है।

तुम अपनी अद्भुत प्रचार-शक्ति से किसीभी विचार को इस प्रकार सर्वत्र फैला देते हो, जैसे शिशिर में प्रातःकाल समस्त वातावरण पर कुहरा छा जाता है—और अपनी खुद की अवसरवादिता से उस घनी-भूत कुहरे को एक क्षण में तुम छिन्न-भिन्नभी कर डालते हो।

सुनते हैं कि अति प्राचीन काल मे प्रचार-शास्त्र यह शायद था ही नहीं। इसकी गरिमा और महिमा को किसी वैदिक ऋषि ने नहीं गाया।

वे कहते थे कि, पुष्प अपनी सुगन्ध का कहाँ प्रचार करने जाता है? पर वे उपमा-प्रयोगी इस मोटे-से तथ्य को भूल जाते थे कि मनुष्य प्रकृति के आश्रय में रहनेवाला कोई फूल-पत्ती तो है नहीं; सृष्टि का वह प्रयत्नशील सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

उस युग का जीवन-शोधक बहुधा मूक साधना के द्वारा अपने मत को फैलाने का विचित्र-सा यत्न करता था। स्वभावतः किसी मूक निश्चल मनुष्य को देख-देखकर लोगों को भारी कुतूहल होता होगा, और उसके विषय की आसपास कुछ चर्चा भी फैलती होगी।

अपनी बातों को फैलाने और बिछाने के उनके अड्डे और साधन भी अद्भुत ही होते थे,—ऊबड़-खाबड़ स्थानों की खूब पद-यात्राएँ चलती थीं, नदियों के तटों या पहाड़ों पर यदा-कदा अव्यवस्थित मेले लगते थे, और अजीब-अजीब पर्वोत्सव भी मनाये जाते थे।

कहते हैं कि बौद्ध भिक्षुओं ने दूर-दूर के देशोंतक मे जाकर सद्धर्म को फैला दिया था। मगर तुम इस दन्त-कथा पर विश्वास नहीं करोगे। कारण कि, उन भिक्षुओं को न तो विभिन्न भाषाओं का परिज्ञान था, और न अखबारों और ध्वनिप्रसारक यन्त्रों के ही उनके पास अचूक साधन थे। यह सच है कि उनकी अजीब-सी वेश-भूषा देख-देखकर लोग उन्हें घेर ज़रूर लेते होंगे, और पर्याप्त ज्ञानोदय न होने के कारण उन अजनबियों की ओर वे सम्भवतः कुछ खिचभी जाते होंगे। ऐसे ही उनके द्वारा तब धर्म-स्थापन हुआ होगा।

तुम्हें यह देखकर अवश्य क्लेश होता होगा कि उन अद्‌भुत साधनों के खण्डहर परिवर्तित रूप में आजभी कुछ-कुछ शेष रह गये हैं ! निश्चय ही भाग्यहीन हे वे असंस्कारी लोग, जो प्रचार-यन्त्र का श्रद्धापूर्वक न तो पावन उपयोग करते हे और न उससे पूरा नैतिक लाभ ही उठाते हैं ।

प्रचार और प्रसार के लिए प्राचीनकाल में ऐसा था ही क्या? न तो तब धर्मनीतिवर्द्धक चुनाव लड़े जाते थे, न शांतिमूलक युद्ध निर्माण किये जाते थे, और न इतने लम्बे-चौड़े लोक-सेवा के ही विविध क्षेत्र थे । तहाँ आज तुम्हारे युग मे सृजन और संहार की सैकड़ों ही अभेदात्मक संस्थाएँ और योजनाएँ मौजूद हैं ।

तुम्हारे विराट् कन्धों पर कैसी भारी-भारी जिम्मेदारियाँ आ लदी हे! तुम्हें सिद्ध करना है कि सेवा और रचना की प्रस्तावित योजनाएँ और प्रवृत्तियाँ मूलतः सत्य-प्रेरित हैं, और सत्य का परमतत्व चुनावों और प्रतिस्पर्धामूलक आन्दोलनों की प्रतिध्वनिप्रवर्तिका कन्दराओं में बसता है ।

तुम्हारी एक शोध ने तो युग की काया को एकदम पलट दिया है । 'किये जाओ' की जगह जबसे तुमने 'कहे जाओ' का यह महामन्त्र प्रतिष्ठित किया, लोक-प्रवृत्तियाँ सारी ही तब से आलोकित हो उठी हैं ।

नये-नये आन्दोलनों को जन्म देकर तुमने सिद्ध कर दिया है कि विज्ञापनवाद वैज्ञानिक है, और आचरण-मार्ग अवैज्ञानिक ।

तुम मानते हो कि प्रचार-यन्त्र जितनी अधिक अश्वशक्ति का होगा, उससे उतने ही बड़े चमत्कारी परिणाम निकलेंगे । तुम्हारे इस यन्त्र से कपास देखते-देखते कोयला हो जाता है और कोयला बन जाता है कपास ।

शिवि और दधीचि अपने शरीर का मांस ओर हड्डियाँ देकर भी, प्रचार का समर्थन न मिलने से, 'त्यागमूर्ति' न बन सके,— तहाँ तुमने कइयों को अपनी वाणी और लेखनी के बल से वैसा बना दिया । और केसरी तो कितने ही तुम्हारी बदौलत कानन को छोड़-छोड़कर मानव-बस्तियों में आ बसे हैं !

तुम्हारे हाथ में योंतो आज अनेक अस्त्र-शस्त्र पड़े हैं, पर सबसे ज़बर-दस्त अस्त्र तो यह सनसनी उगलनेवाले अखबारों का है। इस ब्रह्मास्त्र से तुम एक क्षण में अघटित को भी घटित कर दिखाते हो।

तुम्हारी आँखों को उधार लेकर किसी घटना को जब दर्शक देखते हैं, तो उन्हें वह या तो बहुत बड़ी दिखाई देती है, या बहुत ही छोटी। यथार्थता के तो तुम खण्ड-खण्ड कर देते हो।

बीड़ी हो या कि गीता, अपना अस्तित्व क़ायम रखने के लिए बाज़ार की शोभा बढ़ानेवाली हर चीज़ को तुम्हारा द्वार खट-खटाना पड़ता है। तुमने साहित्य और संगीत में भी एक नया युग उपस्थित कर दिया है। जिन अनेक विषयों को कवि-कल्पना ने कभी छुआ भी नहीं था, उनपर भी तुमने ठोस कविताएँ रच डाली हैं। इसी प्रकार नये-नये रागों का भी तुमने आविष्कार और सृजन किया है।

जिस किसी चीज़ को तुम हाथ लगाते हो, उसकी धूम मच जाती है। तुम चाहते हो कि उसकी चर्चा को अधिक-से-अधिक आँखें और अधिक-से-अधिक कान किसीभी तरह एकबार छूभर लें।

तुम मानते हो कि अलंकारों में सर्वश्रेष्ठ तो 'अतिशयोक्ति' अलंकार है, जो हृदय की अतुलनीय विशालता या उदारता को बड़े रसात्मक ढंग से अभिव्यक्त करता है।

तुम्हारे प्रखरतम बाणों ने आकाश-मण्डल और भूगर्भतक को वेध डाला है ; प्राचीन-से-प्राचीन इतिहास और नवीन-से-नवीन विज्ञान को भी उसके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ता है।

प्रचारक! यदि तुम आज न होते, तो लोहे और पत्थर-जैसे वज़न-दार विषय कागज़ या रुई की तरह जन-आन्दोलनों के वातावरण में कैसे चढ़ या उड़ सकते थे ?

तब, तुम्हारे प्रति दुनिया क्यों न कृतज्ञता प्रकट करे ?

राष्ट्रकर्मी से

आश्चर्य कि तुम्हारे यह अस्थिशेष कन्धे यह कितना भारी बोझ सँभाले हुए हैं! यदि यह सुदृढ़ आधार न मिला होता, तो राष्ट्र अपने भार से शायद ही सँभल पाता। सही संतुलन उसका तुम्हींने अबतक बनाये रखा है।

राष्ट्र के हित-चिन्तन में ही तुम्हारा सारा समय कटता है। यही कारण है कि तुम्हारे अपने खयाल में राष्ट्र अपनी समग्र गति-विधि का तुम्हें ही एकमात्र नियंता मानता है

अपनी कर्मशीलता को तुमने कभी क्षुद्र सीमा-रज्जु से नहीं बाँधा; 'सर्व' या 'अखिल' के स्तर से तुम कभी नीचे उतरते ही नहीं।

कुटुम्ब की चिन्ताओं और जिम्मेदारियों मे फँसे रहनेवाले सामान्य लोगों ने कभी महसूस ही नहीं किया कि तुम्हारी बहुमूल्य जीवन-शक्ति राष्ट्र-उत्थान के अर्थ किस दरियादिली से खर्च हो रही है।

तुमने कभी अपने परिवार की भी पर्वा नहीं की। कमबख्त कुटुम्ब

अखिल राष्ट्र के अन्दर आता भी नहीं। माँ-बाप या भाई-बहिनों की सेवा करनेवालों को कौन बेवकूफ़ राष्ट्रकर्मी कहेगा ?

कुटुम्ब तो यह लोक-सेवा-प्रयोग के लिए एक अत्यन्त संकुचित क्षेत्र है, अतः वह उपेक्षा की चीज़ है। और नज़दीकवालों की सेवा करके किसीने कभी ख्याति भी तो प्राप्त नहीं की, जो कि जीवन-यात्रा का एक आवश्यक सम्बल है।

पुरातन काल में जो दस-पाँच व्यक्ति प्रख्यात हुए भी, उन्हें कभी किसी कथाकार ने क्या राष्ट्रकर्मी कहा है ?

श्रमणकुमार ने अपने अंधे माता-पिता को काँवड़ पर बिठाकर भले ही असंख्य तीर्थों की यात्राएँ कराई हों, पर उसके जैसे अन्धे भक्त राष्ट्र का भारी भार उठानेवालों की श्रेणी मे कभी आ नहीं सकते।

सीता की सारी दिन-चर्या केवल राम की निष्ठातक ही सीमित रही। ऐसी निष्ठा राष्ट्र के प्रति उदासीन ही हो सकती है, और इसी-लिए कवियों ने सीता को 'जगज्जननी' तो कहा, पर 'राष्ट्र-जननी' कदापि नहीं; क्योंकि जगत् तो राष्ट्र के सामने एक छोटी-सी या खोखली-सी चीज़ है।

सौमित्रि ने करोड़ों को कब अपना प्रिय वन्धु माना था ? लक्ष्मण का सेवा-क्षेत्र तो राम की कुटियातक ही सीमित रहा था।

और भरत की भी भक्ति-भावना ऐसी ही संकुचित थी। राष्ट्र की विशालता का भरत को कभी दर्शन भी नहीं हुआ था। भरत की संकीर्ण दृष्टि राम की चरण-पादुकाओंतक ही परिसीमित रही। भोले-भाले भरत ने शायद उस नन्दीग्राम को ही भारत-राष्ट्र मान लिया होगा।

'अखिल राष्ट्रीय भावना' का पूर्ण विकास तो तुम्हारे ही विशाल हृदय में हुआ है। तुम्हारे करोड़ों ही भाई हैं, करोड़ों ही बहिनें हैं। तुम्हारी कर्म-निष्ठा राष्ट्र के एक छोर से चलकर या सरककर दूसरे छोरतक जा पहुँची है।

तुम उन लोगों के बीच में भी बैठकर राष्ट्र-कर्म कर रहे हो, जहाँ

विचार तो उनके और तुम्हारे अनमिल होते ही हैं,—बोली भी जो न तुम्हारी समझते हैं और न तुम उनकी समझते हो। हाँ, अज्ञात रूप से तुम दोनों की हृत्तन्त्रियों के स्वर अवश्य उस क्षण मिल जाते होंगे।

तुम्हारे राष्ट्र-धर्म में कर्म-क्षेत्र की लम्बाई-चौड़ाई एक मुख्य वस्तु है,—तुम कोई गोताखोर तो हो नहीं, कि गहरे में धँसकर डुबकी मारो, न पक्षी ही हो कि ऊँचे-ऊँचे उड़ते फिरो। तुम्हारे लिए तो इतना ही काफ़ी है कि तुम्हारी आवाज़ कितनी लम्बाई-चौड़ाईतक पहुँचती और गूँजती है।

और आवाज़ को पहुँचाने या गुँजाने के तुम्हारे साधन भी अत्यन्त समीचीन और वैज्ञानिक हैं,—अखबारों, जुलूसों और चुनावों का नैतिक सहारा लेकर तुम लाखों-करोड़ों की हृदय-गुहा में चट से प्रवेश कर जाते हो।

अभिमान तो तुम्हें छू भी नहीं गया। किसीभी सभा-सम्मेलन में कोई तुम्हें अध्यक्ष बनने के लिए कहता है, तो ढले-ढलाये दो-चार नम्रतासूचक शब्द गुनगुनाने के बाद तुम तुरन्त उस प्रस्ताव को शील-संकोच के भारी भार से दबकर स्वीकार कर लेते हो। बारात में वर महाशय को चाहे कुछ लज्जा भी आये, पर तुम बिना किसी संकोच या शर्म के राष्ट्र-कल्याण की दृष्टि से जुलूस में फूल-मालाओं से लदकर शरीक हो जाते हो, और उसी अनासक्त भाव से अपने मानपत्रों का सुमधुर पाठ और अपना उच्च जयघोष भी सुन लेते हो।

तुम इतनी अधिक लगन से राष्ट्र की खातिर तरह-तरह का विधायक कार्य करते रहते हो कि तुम्हें अपनी अमूल्य काया की सार-सँभाल-तक का ध्यान नहीं रहता। असल में तो तुम अपनी काया को 'अपनी' मानते ही नहीं; वह तो तुम्हारी दृष्टि में सारे राष्ट्र की सम्पत्ति हो जाती है। तब उसकी सार-सँभाल का ध्यान रखना तुम्हारा नहीं, किंतु राष्ट्र का फ़र्ज़ हो जाता है। वही खिलाये, वही पिलाये, वही पहनाये, वही सारी आवश्यकताओं और अभावों का ध्यान रखे।

तुम्हारी विशेषताओं के कारण तुम सैकड़ों में दूर से ही पहचान लिये जाते हो। तुम्हारी वेश-भूषा, तुम्हारे उठने-बैठने और बोलने का तरीक़ा इतना साफ़ और सधा-सधाया होता है कि तुम कभी छिप नहीं सकते। अपने आपको छिपाने की बुरी आदत तुम राष्ट्र-कर्मियों की होती भी नहीं।

प्राचीनों की तरह तुम कोलाहल से कभी भागते या डरते नहीं। एकांत प्रशांत वातावरण को तुमने मृत्यु का लक्षण माना है, इसीलिए बड़े-बड़े जुलूसों और जलसों में तुम्हें सदा ही उन्मादकारी आनन्द उपलब्ध होता है।

सुनते हैं कि सुरा पर पहले भी प्रेम था,—और अच्छों-अच्छों का प्रेम था; सुरा और सुरों का तो जोड़ा ही था। पुराणों में नाना प्रकार के मद्यों के नाम आये हैं। किन्तु तुम्हारे समुदाय ने जिस जन-सेवा-सुरा का अतृप्त आकण्ठ पान किया है, उसका अलौकिक स्वाद उन प्रचीनों को नहीं मिला था। मानना पड़ेगा कि इस सुरा की बदौलत ही राष्ट्रों में इतना महान् जागरण और सामंजस्य प्रकट हुआ है।

स्वभावत: ही तुम्हें उन लोगों पर रोषपूर्ण दया आती होगी, जो तुम्हारी कोलाहलपूर्ण प्रवृत्तियों से अलग-थलग रहकर सामान्य ढंग से अपनी जीवन-यात्रा को घसीट रहे हैं।

सामान्य ढर्रे पर जीवन की गाड़ी को खींचनेवाले वे कैसे मनुष्य हैं, जो तुम्हारी तरह न तो राष्ट्र के लिए सोचते हैं, न उसके लिए कुछ करते हैं! तुम्हें सचमुच आश्चर्य होता होगा, कि तुम्हारी तरह हज़ारों आदमी भाषण क्यों नहीं देते ?—वे तो केवल बोलते हैं! कोई राष्ट्र-कर्म क्यों नहीं करते ?—वे तो केवल काम करते हैं! तुम्हारी इस परेशानी को देखकर तुम्हारे प्रति किसे हमदर्दी न होती होगी।

राष्ट्रकर्मी! तुम्हें अपना परेशान संप्रदाय अभी बहुत विस्तृत करना होगा। तुम्हारी यह परेशानी तुम्हें बल दे।

ग्रामोद्धारक से

सरासर ग़लत श्रौर बेजा है कि कुछ लोग तुम्हें 'ग्राम-सेवक'—जैसे बहुत हल्के नाम से पुकारा करते हैं। ग्रामोद्धारक या ग्राम-विधाता को भला ग्राम-सेवक कौन कहेगा ?

ग्राम-सेवक तो कोई दूसरे ही जीव होते हैं। तुम्हारे साथ उन बेढंगे मानव-प्राणियों की उपमा कौन जोड़ेगा ? ग्रामसेवक तो वे हैं, जो श्रपने श्रापको देहातियों के जैसे ही गँवार बना लेते हैं। कभी तो उनके हाथ में झाड़ होती है, कभी खुरपी श्रौर कभी कुदाल। ग्रामों में रहते-रहते उनकी भी बुद्धि वैसी ही जड़ हो जाती है। उन्हें न तो सभ्य समाज में उठने-बैठने की तमीज़ होती है, न परिधान धारण करने का ही शऊर।

कुछ अजीब-से ही प्राणी होते हैं वे। अपनी निपट अयोग्यता ढँकने को कोई-कोई तो प्रायः मौन ही रहते हैं, और कुछ अगर बोल भी दिया तो अशिष्टतापूर्वक बेलिहाज़ होकर।

उन असंस्कारी ग्राम-सेवकों के साथ तुम ग्रामोद्धारकों का मुक़ाबला करना निरी मूर्खता है। कहाँ सेवक, कहाँ उद्धारक! ग्रामों का सचमुच यह सद्भाग्य है कि तुम्हारे सरीखे श्रेष्ठ शहरातियों को उनकी याद ने आज इतना अधिक व्याकुल कर दिया है; अतः उनके उत्थान में अब देर नहीं।

मारे व्याकुलता और पर-दुःख-कातरता के देहात के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर से अपनी मोटरगाड़ी उछालते हुए तुम वहाँ 'गरुड़-गति' से पहुँच जाते हो।

व्याकुलता बहुत अधिक बढ़ जाती है, तो महीनों शहर का तुम मुहँ भी नहीं देखते। देहात की जटिल समस्याएँ तुम्हें वहीं गर्द और गोबर के पास बैठकर सुलझानी पड़ती हैं।

तुम्हारे सीधे-सादे रहन-सहन को देहात के अनघड़ लोग बड़े कुतूहल से देखते हैं। तुम उनकी झोपड़ियों के सामने बैठकर जब चीनी मिट्टी की प्यालियों में शहर से लाई हुई ठंडी चाय को पीते और बासी डबल रोटी का और सूखे रसहीन फलों का सेवन करते हो, तब वे तुम्हारी ओर अशिष्टतापूर्वक ताकने लगते हैं। तुम्हारे इस महान् त्याग और तप की वे ग्रामीण लोग कुछ भी क़द्र नहीं करते।

तुम्हारे हजामत के सरंजाम को, तुम्हारी साबुनदानी को, ब्रुश को, तुम्हारी प्यालियों और छुरी काँटे को और तुम्हारे अखबारों और ग्रामीण अर्थशास्त्र की बड़ी-बड़ी जिल्दों को वे कुछ अजीब-सी दृष्टि से देखते हैं। फिरभी तुम्हारे दयार्द्र अन्तर में उनके उत्थान की व्याकुलता दिन-दिन बढ़ती ही जाती है।

दुर्भाग्यवश, उनकी कुण्ठित बुद्धि न तो तुम्हारे-विज्ञानसंगत युक्ताहार की बात समझती है, न शास्त्रीय सफ़ाई और स्वास्थ्य की ही। तुम उन्हें

कितनी ही नई-नई बातें सिखाने के लिए गाँव की खाक छानते फिरो, उनकी जड़ बुद्धि तुम्हारी एकभी शिक्षा को ठीक तरह से ग्रहण करने की नहीं।

तुम इसीलिए दिन में कई-कई बार उनके आगे ताज़ा दूध और फलों के रस का, केवल उन्हींकी हित-कामना से, सेवन करते हो कि तुम्हारे मनोहारी उदाहरण से वे जड़बुद्धि कुछ तो सीखें। पर उन्हें तो वही पानी-सा पतला खट्टा मट्ठा और भात का नमकीन माँड पीना पसन्द है। उनकी ज्वार-बाजरे या जौ-चने की मोटी-झोटी रोटी क्या तुम्हारी मक्खना-वेष्टित पावरोटी से कुछ सस्ती पड़ती होगी? सेब-सन्तरे को भी वे अपनी मोटी बुद्धि से रोटी-प्याज के मुकाबले महँगा या अस्वादिष्ट समझते होंगे, नहीं तो ऐसे स्वास्थ्यप्रद सात्विक आहार की अवहेलना वे क्यों करते?

तुमने गाँव में, अपनी नमूने की कुटिया में, उनकी खातिर स्थापत्य-कला का जो थोड़ा-सा प्रदर्शन सजा रखा है, उसे भी उन कमबख़्तों ने ग्रहण नहीं किया।

तुम यह ठीक ही कहते हो कि मिट्टी-गोबर के संसर्ग में रहते-रहते उन ग्रामीणों के दिमाग़ में भी गोबर भर गया है।

यह तो तुमने जाकर उन्हें बताया कि वे ऐसे गन्दे वातावरण में रहते हैं, जो अनेक रोगों के कीटाणुओं से भरा पड़ा है।

उन भोंदुओं को सफ़ाई और स्वास्थ्य के तर्कसिद्ध सूत्र समझाने में तुम्हें कितना घोर परिश्रम करना पड़ता है, जो अपने घरों को गंदले गोबर से लीपते हैं, कीटाणु फैलानेवाली गायों को अपने सिरहाने बाँधते हैं और बीमार पड़ने पर कठवैद्यों की बताई पीपल-शहद या हरड़-बहेड़े की गोलियों में विश्वास करते हैं।

तुम्हारी यह शोध बिल्कुल सही है कि शहर के हृष्ट-पुष्ट लोगों के मुक़ाबले ग्रामीणों का स्वास्थ्य जो इतना गिरा हुआ दिखाई देता है उसका सबसे ज़बर्दस्त कारण यही है कि 'जर्म-विज्ञान' से वे सर्वथा बे-खबर होते हैं।

तुम्हारे सम्पर्क में आने से पहले उन्हें इतना भी तो प्रारम्भिक ज्ञान नहीं था कि संक्रामक रोगी के पास उठना-बैठना कितना ख़तरनाक प्रयत्न है। रोगी को घेरकर वे मूर्ख ग्रामीण उसकी खटिया के पास बैठ जाते थे। रोगी को घर से अलग कर देने का फ़र्ज़ अदा करना तो तुम्हींने जाकर उन्हें सिखाया।

तुम उनके दिमाग़ मे से उस सड़न को भी निकाल देने का यत्न कर रहे हो, जिसे भूल से 'धार्मिक मनोवृत्ति' का नाम दे दिया गया है।

तुम्हारा यह प्रयास सचमुच स्तुत्य है कि तुम नई चेतना जगाने के लिए नयें-नये गीत सिखाकर ग्रामीणों में पुरातन काल से प्रचलित साधु-सन्तों के सड़े-गले नीरस भजनों को उड़ा देना चाहते हो।

उन्हें तुम व्रत-उपवास और पूजन-अर्चन-जैसे निरर्थक कृत्यों से भी विरत कर देना चाहते हो। यह भी तुम्हारा एक सत्प्रयत्न है।

कुछ लोगों की यह एक ग़लत धारणा बन गई है कि ग्रामोद्धारक चाहे तो ग्रामीणों से बहुत-कुछ सीख सकता है, अतः उसे ग्राम में 'सीखने' की भी दृष्टि लेकर जाना चाहिए।

यह तो कुछ वैसी ही बात हुई कि अध्यापक को छात्रों से, वैद्य को रोगियों से और नेता को अपने अनुयायियों से पाठ पढ़ना चाहिए !

जिन ग्रामवासियों को सब-कुछ सीखना-ही-सीखना है, और सीख-सीखकर ही ऊँचा उठना है, वे तुम सिखानेवालों को भला क्या सिखायेंगे ? हो सकता है कि वे तुम्हें इस प्रकार की अर्थहीन बातें सिखाने बैठ जायें कि गेहूँ और जौ के दरख़्त में क्या अन्तर होता है। उन्हें जो कुछ भी पुराना-धुराना आता है, उसे भुला देने का प्रयत्न करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। और यही कारण है कि उनके तमाम पुराने धार्मिक और सामाजिक मूल्यों को तुम आज ग़लत ठहरा रहे हो। सुना है कि तुम्हारे इस प्रयत्न के परिणाम में तुम्हारी प्रतिष्ठा भी सन्निहित है।

अन्त में तुम्हें तो ग्रामों का यह आज का चित्र ही बदल देना है ;

ग्रामवासियों के सनातन काल से चले आये अबतक के जीवन-चित्र को बिल्कुल पोंछ डालना है। इस आदर्श काया-कल्प की खातिर तुम भारी मेहनत कर रहे हो। ग्रामीणों की हर बात की तुम इसीलिए पूछ-ताछ करते हो।

उनकी हालत को नापने-तौलने के लिए सैकड़ों प्रश्नों की लम्बी-चौड़ी सूची तुमने तैयार कर रखी है। तुम्हारी कुटिया में जाँच-पड़ताल-सम्बन्धी बीसियों फाइलें सजी रखी हैं; दीवारों पर उन्नत देशों के नक्शे टँगे हुए हैं; ग्राम-पुनर्रचना के सैकड़ों ग्रन्थ तुमने पढ़ डाले और ढेर-के-ढेर कागज़ रँग डाले हैं। अपने उद्धार और उत्थान मे क्या अबभी वे कुछ सन्देह करेंगे ?

चूँकि तुम्हें ग्रामीणों का सारा ही जीवन-चित्र पलट देना है, इसलिए तुम उनके धर्मस्थान को 'दफ्तर' में और उनके आनन्द-विनोद के त्यौहार को समाज-सुधार के गम्भीर चिंतन-दिवस में पलट देना चाहते हो।

तर्कवाद के तीक्ष्ण कुठार से उनकी धर्मश्रद्धा की जड़ काट डालने का तुम्हारा यह निश्चय श्लाघनीय है। अंध अश्रद्धा का बीजारोपण करके ग्रामों की तुम वास्तव में भारी सेवा कर रहे हो।

ग्रामीण वे साफ़ ही ग़लत रास्ते पर चले जा रहे थे। जड़ प्रकृति के साथ परिचय बढ़ाते-बढ़ाते वे खुद भी जड़ बनते जा रहे हैं, यह सत्य तुम्हें वहाँ जाते ही स्पष्ट हो गया, और प्रकृति की गोद से तुमने उन्हें हठात् हटा दिया। सचमुच उनकी यह भारी भूल थी कि मानवी सभ्यता से सम्बन्ध न बाँधकर उन असंस्कारियों ने पशु-पक्षियों, पेड़-पत्तियों और खेत-खलिहानों से जाकर अपना नाता जोड़ा। तुमने इस दिशा में जो अनुकरणीय सत्प्रयास किया है, उससे ग्रामोद्धार के इतिहास में तुम्हारा नाम युग-युग अजर-अमर रहेगा।

नेता से

तुम नेता हो, भूले-भटके गुमराहों को चुपचाप अपने पीछे-पीछे ले चलनेवाले। पीछे-पीछे चलने के लिए श्रद्धालु जनता तैयार भी है। पर ले कहाँ जाओगे ? उसे यह सब समझने-समझाने की आवश्यकता नहीं। अनुयायियों या राहगीरों को यह पूछना भी नहीं चाहिए। गुमराह का गुस्ताख होना अच्छा नहीं।

राह दिखानेवाले के लिए यह ज़रूरी नहीं कि 'मार्ग' हो ही। सम्भव है, तुम्हारे अनुयायियों को मार्ग का दर्शन ही न हो। इसमें तुम्हारे नेतृत्व का क्या दोष ?

तुम्हारा यह सद्भाग्य ही है कि तुम आज नेता कहे और माने जाने लगे हो, जबकि इतनी सारी भेड़ों का निर्बाध नेतृत्व करनेवाले गड़ेरिये को कोई नेता नहीं कहता, यद्यपि तुम्हारे अनुयायियों में इतनी भी श्रद्धा नहीं जितनी कि भेड़ों के वर्ग में है।

किन्तु उस गड़ेरिये को अपने भेड़-संघ की वह सूक्ष्म या स्थूल चिंता नहीं रहती, जो तुम्हें अपने मानव-संघ की है।

कारण शायद यह हो कि गड़ेरिया अपने पशु-संघ को तुम्हारी तरह जन्मना गुमराह नहीं मानता, और तुम्हारे वज्र-कन्धों पर जो दुनियाभर की चिन्ताओं और योजनाओं का भार लदा पड़ा है, इसका कारण यही है कि तुम स्वभाव से ही अपने अनुयायियों को गुमराह मान बैठे हो; और वह गवाँर गड़ेरिया, जिसे विवेकशून्य दुनिया ने आजतक नेता नहीं कहा, अपने अनुशासनप्रिय संघ को कभी व्यर्थ के मोहजाल में नहीं फँसाता।

उसे नेतागिरी के छिन जाने का भी भय नहीं, कारण कि वह नेता ही नहीं, जबकि तुम्हें प्रतिक्षण यह भय लगा रहता है, और इसीलिए

शायद अनुयायियों को खींचे रखना ज़रूरी हो गया है।

उन्हें तुम पहले से ही, शायद जन्म से ही, मार्गभ्रष्ट समझ बैठे हो। यही कारण है कि तुम्हें निरन्तर उनके पथ-प्रदर्शन और मार्ग-निर्माण की चिन्ता सताती रहती है। तुम अपने आदर्श मार्ग को इतना अधिक अकंटक, स्वच्छ और पवित्र समझते हो कि तुम खुद उसपर चलकर उसकी स्वच्छता और पवित्रता को नष्ट करना नहीं चाहते। अतः तुम्हारा मार्ग दूसरों के लिए होता है, तुम्हारे अपने खुद के लिए नहीं।

ऊँचे-ऊँचे राज-प्रासादों का निर्माण करनेवाले शिल्पी क्या स्वयं उनमें कभी रहने जाते हैं? इसी न्याय से, मार्ग-निर्माता स्वयं उस मार्ग पर नहीं चला करता। तुम्हारी दृष्टि में प्रयोग और परीक्षण तो सदा दूसरों पर ही होने चाहिएँ।

तुम नेतालोग शायद किसी और ही मिट्टी के बने होते हो; नहीं तो सामान्य जनता के और तुम्हारे बीच में आखिर क्यों इतनी अधिक विभिन्नता होती? अवश्य ही तुम्हारी जीवन-रचना उनसे कुछ भिन्न है; नहीं तो सामान्य जनता का जन्मजात अधिकार आज घोर अन्धकार और मार्ग-भ्रम क्यों होता, और तुम उसके प्रकाशदायक और पथ-प्रदर्शक क्यों माने जाते?

अतः यदि तुम्हारी विभिन्न प्रवृत्तियों पर सहज ही असफलता और अस्वच्छता कब्जा करले, तो तुम्हें उससे आश्चर्य और मनःक्लेश क्यों होना चाहिए?

तुमने अपने नेतृत्व द्वारा निस्सन्देह यह सिद्ध कर दिया है कि सेवक सेव्य से भी महान् है। अपने आपको श्रद्धास्पद जन-सेवक बनाकर सहस्रों अनुयायियों की अन्तर्गुहा में तुमने सहज ही श्रद्धा-भक्ति को बिठा दिया है।

जगत् में कोई तो आकर उठाते हैं, और कोई गिराते हैं—यह हुईं साधारण प्रक्रियाएँ। किन्तु तुम नेताओं की विशेषता तो इसीमें है कि अपने अनुयायियों को न ऊपर ही स्थिर रखो, न नीचे ही पटक दो; वे

यदि अधर-ही-अधर लटकते रहें, तो इसमें उनका अनिष्ट ही क्या ?

तुम उन्हें अपनी खुद की आँखों का उपयोग नहीं करने देते, कारण कि तुम्हारी अपनी आँखें उनके लिए मौजूद जो हैं। तुम स्वयं अपना नेतृत्व करो इसमें तुम्हें अधिक श्रम पड़ेगा। उनके अज्ञान की नींव पर अपने नेतृत्व को खड़ा करने में जो आनन्द-लाभ होता है वह तुम्हें सहज-सा हो गया है। उस स्वाभाविक आनन्द का अभाव तुम्हें सचमुच व्याकुल बना देता है।

तुम जो भाषा बोलते हो, उसमें संगति और स्थिरता-सरीखी कोई चीज़ क्यों हो ? तुम्हारी भाषा का चाहे जैसा अर्थ लगाया जा सकता है। तुम्हारे वक्तव्यों का सत्य अद्भुत होता है; असत्य अत्यन्त गूढ़। न तुम्हारी 'हाँ' समझ में आती है, न 'ना'। तुम्हारी भाषा में आदि से अन्ततक लपेट-ही-लपेट रहती है।

वे सूखी रोटी के लिए घोर परिश्रम करते हैं, और उस श्रम को नौकरी या मज़दूरी कहा जाता है। तहाँ, तुम घी-चुपड़ी रोटियों के लिए शरीर-श्रम बहुत अल्प, किन्तु बौद्धिक और वाचिक श्रम अधिक करते हो, और उसे लोक-सेवा का नाम मिलता है। तुम्हारे प्रचार-पांडित्य ने एक ऐसी जीवन-कला और एक ऐसी नव संस्कृति का प्रदर्शन किया, कि अनुगामिनी जनता की श्रद्धा को उसका पता भी न चला।

तुम क्यों ऐसा प्रयास करते हो कि साधनहीन लोग दुनिया में ज़िन्दा रहें ? जीवित रहेंगे तो वे प्रयत्न करेंगे, परिणामतः धनिक बनेंगे, और पाप और पतन से सम्बन्ध जोड़ेंगे। उनको मिटाने के लिए फिर उन्हें महाप्रयास करना पड़ेगा। इसलिए अच्छा तो यही है कि उन्हें रोटी के अभाव में भूखों ही मरने दिया जाये। पर शायद इसमें तुम्हारे नेतृत्व के अस्तित्व को खतरा है।

नेता! तुम्हारा नेतृत्व सतत निर्भय बना रहे यही तुम्हारी एकमात्र आकांक्षा है। वह सफल हो।

शासक से

शासक ! तुम्हारा प्रयोजन यह सर्वथा अर्थ-संगत है कि प्रजा के उत्कर्ष और विकास के लिए शासन अत्यन्त आवश्यक है। फूल तभी तो विकसित होता है, जबकि वह संपुट के नियन्त्रण में रह चुका होता है।

तुम्हारे पवित्र प्रयोजन में इस तथ्य से कोई फर्क नहीं पड़ता कि फूल उस संपुट का निर्माण स्वयं ही करता है, और इसलिए उसे स्वशासन या स्वातन्त्र्य पसंद है।

'स्वशासन' से तो तुमभी इन्कार नहीं करते। तुमने 'स्वायत शासन,' 'लोक-शासन,' 'प्रातिनिधिक शासन' आदि सुन्दर, श्रुतिमधुर शब्दों की सृष्टि कर डाली है। अतः प्रजा का उत्कर्ष और यह विकास तुम्हारे द्वारा भी निर्वाध ही परिचालित होता है।

'स्वशासन' यह यों कोई नया शब्द नहीं है। इसका आविष्कार बहुत पहले आरण्यक-शोधकों ने किया था,—मगर एक भिन्न अर्थ में।

इस शब्द से उन्होंने 'आत्मदमन' का अर्थ ग्रहण किया था। प्रजा के कल्याण की क्योंकि उन एकांत चिंतकों को तनिक भी चिंता नहीं थी। प्रजा के अभ्युदय के हितार्थ यद्यपि बाद को कतिपय स्मृतियाँ रची गईं, परन्तु तन्त्र या व्यवस्था की दृष्टि से वे भी अपूर्ण और अशुद्ध ही रहीं। शासन तब शायद एक अत्यन्त संकीर्ण या अपने आपमें ही केन्द्रित शब्द रहा होगा; इतना तब वह व्यापक कहाँ बन पाया था? उन व्यवस्थापकों के लिए तो समाज में मात्र आत्म-शासन पर्याप्त था।

ऐसे स्वशासन के काल्पनिक बल पर प्रजा का हित-सम्पादन भला कैसे हो सकता था ? अतिप्राचीन काल में कुछ ऐसी ही अस्पष्ट-सी राज्य-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था।

राजा का शासन-तन्त्र तब एकदम निर्बल होता था। तब का पौरुष-हीन राजा आयु के चौथेपन मे उत्तरदायित्व से डरकर अरण्यवास करने चला जाता था।

उसका सारा ही शासन-प्रयत्न व्यर्थ जाता था। कहते हैं, विनोदी सूर्य जैसे अपनी किरणों से जल को खींच-खींचकर पुन: खेतों पर उँडेल देता है, उसी तरह तब का सनकी राजा अपनी प्रजा से राजस्व वसूल-कर फिर उसीको लौटा देता था।

ऐसेही वे और भी कितनेही निरे अर्थशून्य कार्य किया करते थे। कोई तो हल की मूठ पकड़ लेता था; कोई प्रजा के हितार्थ उपवास कर बैठता था; कोई अपनी पत्नी को घोर जंगल में भेज देता था; और कोई स्वेच्छापूर्वक भिक्षु बन जाता था।

'शासन' को 'शोषण' का समानार्थक बना देना कोई साधारण पुरुषार्थ का काम नहीं। यह पवित्र प्रयास पूर्णतया वैज्ञानिक है। 'शासन' यदि प्रचलित अर्थ में दमन है, तो 'शोषण' के साथ उसकी एकरूपता सधनी ही चाहिए। शासन हो या कि शोषण, उससे 'प्रजारंजन' ही होता है।

किन्तु शासन को तो असल में लोक-तन्त्र से चिरंतन प्रतिष्ठा मिली है, क्योंकि यह बहुजनों के शुद्ध विवेक-बल पर चलता है। तुम मानते हो कि बहुमानव ग़लती कभी कर ही नहीं सकता।

और फिर 'बहुमानव' हमेशा 'उत्तम मानव' ही होता है। 'बहुमत में परमेश्वर बसता है' इस तथ्य को भला कौन झुठला सकता है ?

सत्य हमेशा चार की तरफ़ ही झुकेगा, तीन की तरफ़ नहीं। अत: हस्त-गणना के आधार पर चलनेवाले लोकतन्त्र को नि:सन्देह निर्दोष और सम्पूर्ण होना ही चाहिए।

लोक-तन्त्र में चूंकि चर्चा या बहस के लिए बहुत बड़ा व्यापक क्षेत्र

पड़ा रहता है, अतः न्याय हमेशा वहाँ छन-छनकर ही बरसता है। और फिर जिस वाद-विवाद का उपसंहार 'हस्त-उत्थान' पद्धति द्वारा होता हो, उसकी तरफ़ भला कौन अँगुली उठा सकता है ?

धन्य है 'हस्तोत्थान-अनुशासन' को! सिद्धांत का अपवादों और समझौतों के साथ गठबन्धन कराकर दल का नेता ज़रा-सा इशारा करता है और सैकड़ों हाथ बुद्धि और हृदय की उपेक्षा कर एकदम ऊँचे उठ जाते हैं !

बाद में ठुकराया हुआ मस्तिष्क भी हस्त-संकेतात्मक सत्ता की अधीनता स्वीकार कर लेता है, और उसे वह 'अनुशासन' का नाम दे देता है। सोचता है कि लोक-तन्त्र का निर्णय शुद्ध ही हुआ होगा, कारण कि इतने तमाम हस्तों ने ऊँचे उठकर विवादात्मक प्रश्न का आमूल मन्थन जो किया है।

मंथन का काम पहले मस्तिष्क और हृदय के सुपुर्द था, उसे अब लोक-तन्त्रवादियों ने 'हाथ' को सौंप दिया है।

मद्य को एक या दो-चार ही क्यों पियें ? दो-दो चार-चार बूँद लाखों-करोड़ों को, और एक-एक प्याला उसका सौ-पचास जनों को क्यों न पिलाया जाये ?

यह वक्तव्य कितना मधुर और मादक है कि राष्ट्र के शासक सारे ही प्रजाजन हैं ! प्रश्न खड़ा करना अप्रस्तुत है कि राष्ट्र में कोई 'स्व-शासित' भी हैं या नहीं ?

तुम्हारी दृष्टि में राज-तन्त्र हो या कि प्रजा-तन्त्र, उसमें लोक-हित को स्वतः विकसित नहीं होना चाहिए, बल्कि शासन के इशारे पर लोक-हित को अपनी परिभाषा स्वयं गढ़ लेनी चाहिए, और 'बहुमानव' द्वारा संचालित विधान-यंत्र के चक्र पर लोक-बुद्धि और लोक-हृदय को ठीक तरह से घूमते रहना चाहिए।

कभी-कभी तुम परस्पर का शासन ज़्यादा पसन्द करते हो। लोक-मत राष्ट्रीय मद्य से प्रेरित होकर 'अधिनायक' का निर्माण करता है,

और अधिनायक फिर लोकमत को अपने आकर्षक आतंक द्वारा मोड़ लेता है।

मगर एक चीज़ तो तुम्हारे सभी शासन-तन्त्रों में व्याप्त देखी जाती है, और उसका व्याप्त रहना ही तुम्हारे हक़ में श्रेयस्कर है,—यह कि साधारण प्रजा कभी भेड़ की कोटि से ऊपर नहीं उठती। वह भेड़िए और बाघ का भी स्वाँग भरना जानती है, पर कइयों को बाघ बनाकर भी वह अपना भेड़ का स्वरूप कभी त्यागना नहीं चाहती; चाहे भी, तो त्याग नहीं सकती।

राज-तन्त्र के आगे वह 'भेड़-प्रजा' अपनी वफ़ादारी ज़ाहिर करती है, यद्यपि हृदय में उसके विरक्ति और घृणा भरी रहती है, और कभी-कभी वह डरते-डरते सफल या विफल विद्रोह भी कर बैठती है।

लोकतन्त्र के सौन्दर्य पर वह मोहित हो जाती है। सत्ता और जातीयता की मादक सुन्दरता को वह घट-घट में देखती है; चाहती है कि उसे उँडेलकर पूरी-की-पूरी पी जाये, पर ओठों से जो चीज़ जा लिपटती है, वह तीक्ष्ण तेज़ाब होता है।

अधिनायक-तन्त्र में वह देखती तो अपनी ही डरावनी परछाईं है, पर उसे ठीक-ठीक पहचान नहीं पाती।

शासक, तुम्हारा भाँति-भाँति का यह शासन-तन्त्र प्रजा के हक़ में अस्पष्ट-सा ही रहा है, चाहे उसकी आँखों में तुमने कैसा ही मोहनांजन डाला हो।

प्रजा तुम्हारे विविध रूपों पर मोहित होना जानती है, और तुम्हें पदच्युत करना भी उसे आता है। पर यह अच्छा है कि प्रत्येक शासन-तन्त्र में तुम उसके लिए अपरिचित-से रहते हो, और वह तुम्हारे लिए अजनबी-सी रहती है।

कभी-कभी असंस्कृत और अशासित जातियों को उनके स्तर से ऊपर उठा देने का पवित्र उद्देश्य लेकर भी तुम्हें ईश्वरी आदेश से उनपर शासन करना पड़ा है।

शांति और व्यवस्था की प्रतिक्षण तुम्हें चिता रहती है, और कहीं वे खतरे में न जा पड़ें इसलिए तुम्हें कभी-कभी अशान्ति और अव्यवस्था से भी काम लेना पड़ता है।

तुम स्वयं अपने आयोजनों द्वारा पैदा की हुई अशान्ति और अव्यवस्था को सदा शांति और व्यवस्था ही कहते हो। तुम्हारी अपनी तथा प्रजा की प्रवृत्तियों में यह पारिभाषिक अंतर दुर्भाग्य या सद्भाग्य से हमेशा ही देखने में आया है।

तुम्हारी मर्यादा के अंदर प्रवेश पाते ही बड़े-बड़े गुनाह अपना असली रंग बदल लेते हैं; राष्ट्रहित के अनिवार्य साधनों में वे परिणत हो जाते हैं।

अविश्वास और सन्देह की पुख्ता बुनियाद पर तुम्हें ऐसा शासन-तन्त्र स्थापित करना बहुत प्रिय है, जिसके उद्देश्य होते हैं निष्ठुर शांति, घोषित व्यवस्था, और शोषक लोक-हित।

अद्भुत है कि जन-हित की तुम्हारी सुन्दर-सुन्दर योजनाएँ मूढ़ प्रजा की समझ में नहीं आतीं,—उनको या तो वह मुग्ध दृष्टि से या फिर संदिग्ध दृष्टि से देखती है।

शासक! तुम्हें यह प्रस्ताव एकदम नापसन्द है कि पशुओं की जंगली राज्य-व्यवस्था की ओर लौट चलना चाहिए। उस व्यवस्था में, क्योंकि, न तो सांस्कृतिक विकास के लिए गुंजाइश है, और न कोई वैधानिक योजनाएँ ही वहाँ संगठितरूप से चल सकती हैं।

अपने पक्षों के समर्थन में यद्यपि तुम कभी-कभी वन्य पशुओं, मधुमक्खियों और चीटियोंतक की मिसाल दे डालते हो, पर असल में अपने शासन-तंत्र के सामने सर्वत्र तुम्हें अव्यवस्था और अराजकता ही दीखती है।

शासक ! तो क्या अंततक तुम एक पहेली ही बने रहोगे ?

शिक्षक से

शिक्षक ! ज्ञान-विज्ञान का यह ढेर-का-ढेर उत्पादन जितना तुम्हारे उर्वर मस्तिष्क-क्षेत्र में हुआ है, उतना शायद हीं कहीं अन्यत्र हुआ हो। सद्भाग्य है कि तुम्हारा उत्पादित ज्ञान उस ज्ञान की व्याख्या पर नहीं उतरता, उसकी उस सीमा को नहीं छूता, जिसके बड़े-बड़े दावे दर्शन-सूत्रों और उपनिषदों ने पुराकाल में किये थे।

वह प्रारम्भिक परिशोधों का, अतः अपूर्णता का, युग था। तब के वे अपूर्ण परिशोधक यथार्थता का हू-ब-हू निरूपण करते हुए काफ़ी हिचकते थे, और अपना निपट अज्ञान छिपाने के लिए उन्हें संशयास्पद सूत्रों की शरण लेनी पड़ती थी।

कभी तो वे अपने धुँधले ज्ञान को अपनी अपरिपक्व बुद्धि से 'अनन्त' कहने लगते थे, और कभी 'असीम' और 'अज्ञेय'।

तहाँ, तुमने ज्ञान की आज ठीक-ठीक हदबंदी करदी है। तुमने उसे कसकर बाँध लिया है। तुम्हारे ज्ञान-क्षेत्र में आज वह 'नेति, 'नेति' की अज्ञानसूचक रटन सुनने को नहीं मिलती।

छात्र-जगत् को तुम कितना अधिक सिखाते हो, कितनी अधिक ज्ञान-राशि उसे प्रदान करते हो, अपने इस अखण्ड दान का कदाचित् तुम्हें भी ठीक-ठीक पता न हो।

तुम अपने उपार्जित ज्ञान की आलोक-किरणें प्रतिक्षण बिखरते ही रहते हो। उन ढेर-की-ढेर किरणों को मूढ़ विद्यार्थियों से बटोरते भी नहीं बनता।

आरण्यक युग के गुरु तो महाकृपण होते थे। इतने अधिक मित-व्ययी कि अपने यत्किंचित् ज्ञान को बहुत सम्भाल-सम्भालकर खर्च करते थे। उनके हर चीज़ के प्रति संयम का कदाचित् यही आशय रहा होगा।

शिक्षण-प्रक्रिया में स्वभावतः ज्ञान-निधि का क्षय प्रतिक्षण होता रहता है, यह तो तुम मानते ही हो। अच्छा हुआ कि इस ज्ञान-यक्ष्मा का अचूक इलाज तुमने खोज निकाला। ज्ञान का जितना अधिक क्षय होता है, भारी-भारी शुल्क या वेतन लेकर तुम उतनी ही उसकी पूर्ति कर लेते हो।

शिक्षण और वेतन के श्रेष्ठ विनिमय का तब यह महान् अन्वेषण नहीं हुआ था। वे मतिमूढ़ गुरु तो हमेशा अपने 'कुल' को चलाने की ही चिन्ता में व्याकुल रहते थे, और इस बात के भी इच्छुक रहते थे कि विद्यार्थी अपने कुल-पति को श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखें और पूजें।

विद्यार्थियों की कोरी श्रद्धा-भक्ति का तुम्हारे आगे कोई मूल्य नहीं। तुम्हे परवा नहीं, जो तुम्हारे सुशील छात्र तुम्हें अपना वेतनभोगी नौकर समझते हैं।

शिक्षण-शालाओं में आज की भाँति उस युग मे 'त्रैराशिक' का प्रयोग नहीं किया जाता था। तहाँ आजका गणितज्ञ शिक्षक इस प्रश्न को तुरन्त हल कर लेता है कि 'उतने विद्या-दान का यदि इतना शुल्क हुआ, तो इतने का कितना होगा ?'

तुम्हारे ज्ञान-विकास का यह सबसे बड़ा प्रमाण है कि शिक्षण और शुल्क मापने का सही फीता हमेशा तुम अपने पास रखते हो।

अर्थशास्त्र का तुमने गहरा अध्ययन किया है। तुमने अध्यापन-जैसे शुष्क दिमागी व्यायाम को जो आज एक प्रतिष्ठित व्यवसाय का रूप दे डाला है, यह तुम्हारा कोई मामूली अर्थसिद्ध पुरुषार्थ नहीं है।

सम्भव है, प्राचीन काल में भी एक-दो गुरुओं के अंतर में यथार्थत: बुद्धिविकास हुआ हो, और उन्होंने द्रव्य लेकर पठन-पाठन का सिलसिला शुरू कर दिया हो। किन्तु एक स्मृति में यह अन्यायपूर्ण उल्लेख मिलता है कि 'भृतजीवी' अर्थात् वेतनभोगी शिक्षक को श्राद्ध के पुनीत कार्य में वरण न किया जाये। ऐसा भयंकर दण्ड और यह कुनाम देकर स्मृतिकार ने उन सुधार-प्रेमी शिक्षा-शास्त्रियों की शुरू में ही जड़ काटदी।

तब का आचार्य दूसरों के पुत्रों को अपने पुत्र समझने की भी वाहियात चिन्ता में व्यस्त रहता था। तुम्हारे जैसे यथार्थवादी अथवा 'अर्थवादी' शिक्षक ऐसे मूढ़तापूर्ण विचारों में क्यों पड़ने लगे ?

तुम्हारा काम तो शिक्षार्थी को मात्र शिक्षण देना है। उसके चारित्र्य के तुम पहरेदार तो हो नहीं, न उसके जीवन के तुम नियंता ही हो। तुम्हारे लिए उसके सम्बन्ध में इतनी ही जानकारी रखना काफ़ी है कि जो पाठ तुमने दिया है, उसे वह समूचा-का-समूचा निगल गया या नहीं। उसे वह हज़म भी करता है या नहीं, अथवा अपने आचरण में उसे कितना उतारता है, इन सब निरर्थक प्रश्नों से तुम्हारा कोई वास्ता नहीं।

जैसे, तुम्हारा शिक्षण-ज्ञान इतनाभर सिद्ध कर देगा कि तम्बाकू के सेवन से क्या-क्या हानियाँ होतीं हैं, पर इस बात की देख-रेख या हिसाब रखना तुम्हारा काम नहीं कि तुम्हारे कितने प्रतिशत विद्यार्थी बीड़ी-सिगरेट फूँकते हैं !

तुमने इस महान् तत्त्व को बुद्धिमत्तापूर्वक समझ लिया है कि शिक्षक का काम एक नियत माप-तोल के अनुसार किताबों से खरोंच-खरोंचकर विद्यार्थी को मात्र शिक्षण देना है, इससे आगे और कुछ नहीं।

तुम समय-समय पर शिक्षा की नई-नई योजनाएँ भी गढ़ते रहते हो, और उनके सफल-असफल प्रयोग भी किया करते हो। किंतु तुम्हारे वे सारे प्रयोग दूसरों के बच्चों पर ही होते हैं, अपनोंपर कभी नहीं। तो क्या तुम्हारी उन नई शिक्षा-पद्धतियो पर तुम्हारे बच्चों का विश्वास नहीं, या खुद तुम्हारा भी विश्वास नहीं है ? अद्भुत है तुम्हारी यह आकांक्षा कि जिस शिक्षा-योजना पर न तुम्हारा खुद का विश्वास है न तुम्हारे बच्चों का, उसे तुम दूसरों के गले उदारतापूर्वक उतार देना चाहते हो !

स्वाभाविक है कि तुम्हारे छात्र तुम्हारी वेश-भूषा की नक़ल श्रद्धा-भक्ति से किया करें। इस तरह सादगी का सात्विक त्याग सिखाकर तुम सचमुच अपने छात्रों का,—खासकर ग्रामीण छात्रों का—भारी उपकार कर रहे हो

पुराने पाषाण-युग के निर्दय नीरस शिक्षक अपने छात्रो को आत्म-संस्कृति के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर ज़बरन घसीट ले जाते थे; तहाँ, तुम उन्हें व्ययसाध्य खेल-कूदों और ललित कलाओं के नये-नये वैज्ञानिक अर्थ समझाकर हँसते-खेलते मोहक मनोरंजक मार्ग पकड़ा देते हो।

शिक्षक ! निश्चय ही तुम्हारा ज्ञान-दान यह अद्भुत है और अर्थ-पूर्ण भी।

शिक्षार्थी से

ईर्ष्या-सी होती है तुम्हारी यह आकर्षक जीवन-चर्या देख-देखकर। शिक्षा के इस सुनहरे स्वच्छन्द सुपथ पर तुम्हारा यह छात्र-जीवन वर्षों से कैसी निश्चिन्त यात्रा करता चला आ रहा है।

शिक्षार्थी, तुम्हारा यह सारा ही वातावरण भव्य है। विद्यालय के ये आलीशान भवन, खेल-कूद के ये विशाल मैदान, नख से शिखतक

तुम्हारी यह वेश-भूषा, तुम्हारी बड़ी-बड़ी क़ीमती किताबें और रंग-बिरंगी निर्झर कलमें देखकर तुम्हारे इस छात्र-जीवन पर कौन मोहित न हो जायेगा ?

पुरातन काल के शिक्षार्थियों की जब तुम्हारे साथ तुलना करते हैं, तब पता चलता है कि छात्र-संस्कृति का आज कैसा असीम विकास हो गया है ।

घास-फूस की गंदी झोंपड़ियों में या वृक्षों की छायातले अंटसंट सूत्रों और कारिकाओं के रटनेवाले उन कौपीनधारी असंस्कारी शिक्षार्थियों का ज़रा ध्यान तो करो ।

कानों का पर्दा फाड़नेवाले उच्चस्वर से हाथ नचाते हुए वे प्रातः ही पाठ घोखना प्रारम्भ कर देते थे; और पेड़ की छाल और ताड़पत्रों पर न जाने क्या-क्या ऊटपटाँग लिपि में लिखते रहते थे ।

दिनचर्या भी उन विद्यार्थियों की कुछ विचित्र-सी ही होती थी । कभी तो गुरुआनी की आज्ञा से जंगल में जाकर लकड़ियाँ इकट्ठी करते, और कभी आस-पास से दुर्गन्धभरा गोबर बटोर लाते थे । पानी भरना, झाड़ू देना, सारा गृह लीपना और प्रातः ही ठण्डे पानी से नहा-धो लेना यह था उन वटुकों का अभ्यासक्रम !

दोनों-तीनों समय आचार्य की नियमित पाद-सेवा तो होती ही थी । गौओं की वे टहल करते थे, खेत गोड़ते, और धान भी उन्हें कूटनी पड़ती थी । इनमें से एक भी विषय क्या आज के समुन्नत शिक्षा-क्रम के अन्तर्गत आता है ?

द्वार-द्वार भिक्षा-पात्र लेकर वे नित्य घूमते भी थे । ऐसे भिक्षाखोर विद्यार्थी एक-एक विद्यापीठ में दस-दस सहस्र इकट्ठे हो जायें तो अचरज क्या ?

दिनचर्या तो, बस, तुम्हारी ही गौरव-शालिनी है, खासकर उच्च-शिक्षा प्राप्त करनेवाले तुम सुसंस्कृत शिक्षार्थियों की ।

तुम्हारा दैनिक कार्य-क्रम यह सारा ही बोधप्रद है. कारण कि तुम 'केवल' शिक्षार्थी हो ; उन प्राचीनकाल के छात्रों की तरह तुम संस्कार-हीन श्रमजीवी विद्यार्थी नहीं हो ।

तुम्हारे कार्यक्रम में वैसा कोई झाड़ू-खुरपीवाला शरीर-श्रम नियत नहीं किया गया है । तुम नहीं चाहते कि तुम्हारा शरीर-श्रम किसी उत्पादन या किसी फल से लांछित हो, इसीलिए तुम नानाविध स्पोर्टों के शुद्ध अनुत्पादक श्रम को सदा पसन्द करते हो—और उस श्रम-देवता के चरणों पर उलटे तुम सैकड़ों-हज़ारों रुपये चढ़ा देते हो ।

यह बात नहीं कि हाथ-पैर से तुम कभी काम नहीं लेते ; तुम एक सुधरे हुए बढ़िया कलात्मक ढंग से उनका उपयोग करते हो । जैसे, पैर से तुम भारी-भारी गेंदें उछालते हो; कूदते हो, नाचते हो ; हाथ से दिन में तीन-तीन, चार-चार बार केशों को झाड़ और कंघी से कलापूर्वक सँवारते हो ; जूतों पर प्रातः और सायं पॉलिश करते हो ; गले की रंग-बिरंगी धज्जी को परिश्रमपूर्वक बाँधते हो—और भी न जाने कितने श्रम-साध्य काम तुम विशुद्ध शिक्षा-लाभ की दृष्टि से सारे दिन करते ही रहते हो ।

क्या तो शारीरिक और क्या बौद्धिक श्रम में तुम शिक्षार्थियों ने सार्थकता को स्थान न देकर खालिस 'कला' को प्रतिष्ठित किया है ।

तुम ऐसे अनेक ऊँचे-ऊँचे विषयों का अभ्यास करते हो जो कि आगे चलकर न केवल जीवन-दर्शन के साथ बल्कि उदर-पूर्ति से भी रिश्ता जोड़नेवाले नहीं ।

और उदर-पूर्ति के बेकार चिन्तन में तुम पड़ो ही क्यों ? तुम्हारा एकमात्र ध्येय तो ऊँची-से-ऊँची शिक्षा को हासिल करना है । तुम्हारे सामने तो ऊँचे-ऊँचे आदर्श हैं, गंभीरतम विषयों का गूढ़ और सूक्ष्म चिन्तन है, अखबारी दुनिया की बड़ी-बड़ी जटिल समस्याएँ हैं । तेल, नौन और लकड़ी की चिन्ता में घुलना-पिसना साहित्य या विज्ञान के विद्यार्थी का काम नहीं ।

और, अपने भविष्य के बारे में तुम सोचो ही क्यों ? यह सब तो

निरक्षर किसान सोचे कि खेत में वह क्या बोयेगा और क्या काटेगा ; बुद्धिबल से वंचित मज़दूर सोचे कि अपने निठल्ले हाथ-पैरों का उपयोग वह किस-किस काम में करेगा ।

तुम्हें न तो खेतिहर बनना है, न मज़दूर ; न कुदाल चलानी है, न खुरपी; न कातना है, न बुनना ; ये सारे ही जंगली धन्धे तो असभ्य निरक्षरों के करने के हैं, तुम सभ्य साक्षरों के नहीं ।

फिर ये सब-के-सब धन्धे श्रद्धा और शरीर-श्रम पर अपना आधार रखते हैं । इनमें पड़ने की बेवक़ूफ़ी तुम भला क्यों करोगे ?

श्रद्धा-भावना को तुम उपहास की दृष्टि से देखते हो, तो उसे अनुचित कौन कहेगा ? प्रतिमास नियत फीस देकर शिक्षक को खरीद लेनेवाला बुद्धिवादी विद्यार्थी श्रद्धा-भक्ति को लेकर आखिर करेगा क्या? दुनियाभर के ज्ञान-विज्ञान की बड़ी-बड़ी पोथियाँ तुम्हारी मेज़ पर बिखरी पड़ी हैं, और वह वेतनखोर अध्यापक तुम्हारा नौकर है । फिर तर्कवाद की भी तुम्हारे पास अटूट पूँजी है,— तब श्रद्धा और जिज्ञासा तुम्हारे किस काम की ?

और शरीर-श्रम को भी तुम मूल्यवान् क्यों मानो ? शरीर-श्रम का शिक्षा के साथ कोई मेल भी तो नहीं बैठता ।

श्रमसाध्य शिक्षा पुराने युग के विद्यार्थी में कितने ही नैतिक दोष पैदा कर देती थी,—जैसे कि नम्रता, यथार्थता, तितिक्षा, श्रद्धा आदि ।

तहाँ, व्ययसाध्य शिक्षा ऐसे दोषों से शिक्षार्थी को सर्वथा मुक्त रखती है, और यही उसकी खास खूबी है । तुम किसीका अंकुश नहीं मानते, यही तो तुम्हारे स्वतंत्र ज्ञान-संचय का प्रत्यक्ष प्रमाण है । प्रवृत्ति को 'हलचल' का नाम शायद तुम्हारी ही अदम्य शक्ति से सुलभ हुआ है ।

प्राचीन काल का शिक्षार्थी विद्या के साथ हठात् विनय का बेतुका संबंध जोड़ देता था; शिक्षा का बेमेल गठ-बन्धन वह दीक्षा के साथ कर लेता था । यही कारण है कि तब की छात्र-संस्कृति विकास नहीं कर पाई ।

तुमने यह ठीक ही किया, जो विद्या के साथ अविनय का रिश्ता जोड़ लिया, भले ही कोई सिरफिरा तुम्हारी विद्या को अविद्या का नाम दे डाले। फिर यह तो अन्य बहुत-सी चीज़ों की तरह एक गवेषणा का विषय है कि जीवन का निर्माण विनय-युक्त विद्या से होगा या अविनय-युक्त अविद्या से।

किंतु विद्या का कब निरंकुशता से वैर रहा ? विद्या को तुमने 'विमुक्ति' का पर्याय मान लिया, तो इसपर किसीको क्यों आपत्ति हो ?

तुम्हारे ऊपर व्यर्थ ही यह आरोप किया जाता है, कि पढ़ते-पढ़ते तुमने अपना स्वास्थ्य चौपट कर लिया।

पूछो तो उन आरोपियों से कि आखिर उनकी स्वास्थ्य की व्याख्या क्या है। क्या नयनाभिराम ऐनक देखकर ही वे तुम्हारी सूक्ष्म दृष्टि को कमज़ोर बताते हैं ? तुम्हारा पीला चेहरा और पिचके गाल देखकर क्या वे इतना भी नहीं समझते, कि यह तो तुम्हारे शिक्षण-काल की प्रखर तपश्चर्या का सुपरिणाम है ?

फिर तुम्हारा स्वास्थ्य गिरेगा क्यों ? तुम्हारा विद्यार्थी-जीवन कुछ असंयमी तो है नहीं। उत्तेजक पदार्थों का रक्तवर्द्धक सेवन, चित्रपट-घरों में आधी-आधी राततक का उत्तम जागरण, रसीले साहित्य का स्वाध्याय, शरीर-श्रम से सहज वैर, इस सबकी क्या असंयम में गणना की जायेगी ?

शिक्षार्थी, तुमने क्या नहीं साधा ? शरीर-श्रम की उपेक्षा से पीत-वर्णोन्मुख आरोग्य और प्रामाणिक आजीविका को साधा ; अश्रद्धा और अविनय से चारित्र्य का निर्माण किया ; और अध्ययन को आचरण से अछूता रखकर मनुष्यत्व को विकसित किया।

तुम्हारा यह उन्मुक्त जीवन वस्तुतः अत्यधिक सफल रहा।

परीक्षक से

लोग पूछते हैं, कि तुम कदाचित् सारी ही परीक्षाएँ पार कर चुके होगे, नहीं तो सैकड़ों-हज़ारों के परीक्षक तुम कैसे बन जाते ? भला यह भी कोई प्रश्न है ?

साफ़ ही उनका यह भ्रम है। वे नहीं जानते कि परीक्षा लेने का परीक्षा देने से कोई सम्बन्ध नहीं। परीक्षा तो चाहे जो, चाहे जब, चाहे जैसे, चाहे जिसकी ले सकता है।

दूसरों को सज़ा देनेवाले न्यायाधीश के लिए यह आवश्यक थोड़ा ही है कि वह खुद भी सारी सज़ाएँ काट चुका हो। यह मोती खोज निकालने-वालों का धन्धा तो है नहीं कि बिना खुद गोता लगाये मोती हाथ ही

न आयें। किसीका फैसला देने या किसीकी परीक्षा लेते समय कहाँ गहरे जाने की ज़रूरत होती है ?

परीक्षक, तुम्हारा काम तो दूसरों के छिपे-पड़े अज्ञान को टटोलना है। तुम तो सिर्फ इतना देखना चाहते हो कि उसके अन्दर अज्ञान कहाँ-कहाँ छिपा पड़ा है।

तुम्हें यह नहीं देखना कि उसमें ज्ञान का अंश कितना है। यह खोज तो स्वयं परीक्षार्थी करे।

परीक्षा यों कोई नई शोध नहीं। परीक्षा पहले भी होती थी, पर तब उसका इतना अधिक विकास नहीं हुआ था। तब की वे परीक्षाएँ बर्बर युग की याद दिलाती हैं। परीक्षकों की निष्ठुरता सामने आती है, तो जी काँप उठता है।

विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र की परीक्षा ली थी ; राम ने सीता की ; कृष्ण और अर्जुन ने मोरध्वज की ; और इन्द्र ने शिवि की। सब-के-सब वे कैसे ज़ालिम परीक्षक थे !

वे जीवन की परीक्षा लेते थे, जबकि तुम मनुष्य की बौद्धिक योग्यता को परखते हो, और वह भी एक खासे अच्छे वैज्ञानिक ढंग से।

उन पुराने परीक्षकों के पास कहाँ था परीक्षा का कोई सही पैमाना? ज्ञान को मापने का तुम्हारे पास, जबकि, एक अद्‌भुत फीता है, जिससे तुम परीक्षार्थी के मस्तिष्क को निश्चित अंकों से सही-सही माप लेते हो।

तुम्हारी निर्णय-बुद्धि की ओर कोई अँगुली नहीं उठा सकता। तुम हज़ारों ही परीक्षार्थियों की योग्यता को खूब बारीकी से माप लेते हो। तुम्हारे चेहरे पर की रेखाएँ स्पष्ट बतला देती हैं, कि किस परीक्षार्थी ने तुम्हारे दिये प्रश्न को किस तरह हल किया है।

तुम्हें आश्चर्य होता है कि प्रश्नों का तुम स्वयं जैसा उत्तर लिखते, वैसा परीक्षार्थी ने क्यों नहीं लिखा, तुम्हारी सरीखी योग्यता उसमें आखिर क्यों नहीं आई !

संयोग से किसी प्रश्न का उत्तर देने से यदि छूट जाये, या अंकों का

जोड़ ग़लत लग जाये, या उत्तर-पुस्तक जाँचते समय ध्यान तुम्हारा कहीं इधर-उधर चला जाये, तो तुम थोड़े ही परीक्षार्थी की अनुत्तीर्णता के लिए दोषी ठहराये जा सकते हो।

और वह कमबख्त असफल विद्यार्थी रेल की पटरी पर लेटकर जान देदे, तो उसकी अकाल मृत्यु के जवाबदेह तुम थोड़े ही हो सकते हो।

तुमने तो अनासक्त भाव से अपने हाथ में योग्यता-अयोग्यता मापने का फीता पकड़ रखा है,—माप लेते समय सूत-दो सूत वह इधर का उधर हट जाये, और उससे कोई अक्लमन्द परीक्षार्थी आत्मघात कर बैठे, तो उसे 'संयोग' ही कहा जायेगा; परीक्षा की वैज्ञानिकता को उससे सदोष कैसे कहा जा सकता है ?

और तुम्हारा वह 'संयोग' हमेशा ही घातक नहीं होता, किसी-किसी के हक़ में तो वह श्रेयस्कर भी सिद्ध होता है। तुम्हारी अंकों की उस आकस्मिकता से निपट अयोग्य भी कभी-कभी खासा योग्य बन जाता है।

कभी-कभी तुम उदारता की लहर में आकर 'कृपांक-दान' से भी काम ले लेते हो। आशय यह कि उन पुराने बर्बर परीक्षकों से तुम बहुत आगे निकल गये हो।

परीक्षा लेने की तुम्हारी वैज्ञानिक पद्धति को इधर कुछ मनचले आलोचकों ने अप्राकृतिक और ग़लत कहा है। पर तुम उनकी आलोचना से कभी विचलित नहीं हुए, और न कोई कारगर परीक्षा-पद्धति ही वे आलोचक अबतक निकाल पाये हैं। उनकी आलोचनाओं पर तुमने कभी ग़ौर से विचार भी नहीं किया। परीक्षा तुम्हें खुद तो देनी नहीं, इसलिए परीक्षा-पद्धति पर पुनर्विचार की जरूरत भी नहीं

परीक्षक, तुम्हारे महान् श्रम को अबतक तो सफलता-ही-सफलता मिली है; साथ ही, विवेक और न्याय को प्रोत्साहन भी।

और, स्वयं तुम्हारे आलोचक भी तुम्हारे हाथ से प्रमाण-पत्र पाने की अभिलाषा रखते हैं।

विज्ञानी से

ज्ञान को तुमसे एक नया ही प्रकाश मिला है; तुम्हारी बदौलत उसने एक विशेष अर्थ पाया है; नहीं तो वह 'विज्ञान' में कैसे रूपान्तरित हो सकता था।

तुम ज्ञान की किरणों से आलोकित नहीं हो रहे हो, बल्कि ज्ञान का सूर्य तुमसे यह नया-ही-नया प्रकाश पा रहा है

पुरा काल के वे ज्ञान-शोधक संशयास्पद आत्मा के अधकच्चे ज्ञान को ही विज्ञान मान बैठे थे। उनके उस विशिष्ट ज्ञान की दौड़, बस, एक आत्मा, या बहुत हुआ तो परमात्मातक ही सीमित थी।

आगे चलकर तो उन्हें स्वयं अपने द्वारा संस्थापित विज्ञान के प्रति शंका पैदा हो गई, और दिङ्मूढ़ हो वे विचित्र विज्ञानी ज़ोर-ज़ोर से 'नेति, नेति' चिल्लाने लगे।

जिस भौतिक ज्ञान के प्रति उन पुराने सत्य-शोधकों ने आलस्य और उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया था, तुमने उसीको बुद्धिवर्द्धक 'विज्ञान' की सुन्दर संज्ञा दी, और फलतः उसी क्षण विज्ञान के उस रूढ़ अर्थ का अन्त हो गया।

तुम्हारे नये-नये प्रयोगों और अद्भुत आविष्कारों से भौतिक जगत् में तहलका मच गया। तुमने अपने तीक्ष्ण नखों से पृथिवी का पेट चीर डाला; आकाश को विक्षुब्ध कर दिया; सागर तुम्हारे आतंक से खल-भला उठा; वायु का श्वास अवरुद्ध हो गया।

पृथिवी, वायु, जल, अग्नि या विद्युत् किसीभी तत्त्व को तुम्हारी अवज्ञा करने का साहस नहीं हुआ। तुम्हारे सामने सारी ही भौतिक शक्तियाँ हाथ बाँधकर खड़ी हो गईं। तुम्हारी विज्ञान-मायाने मानव को देखते-देखते 'अतिमानव' या 'विमानव' बना डाला।

तुमने प्रकाश के, ध्वनि के, वायु के और परमाणु के जिस प्रकार परीक्षण और पृथक्करण किये, उन्हें देख-देखकर अँगुली दाँतों तले से निकलती ही नहीं। साकार का ही नहीं, निराकार का भी तुमने एक-एक पुर्जा खोल डाला। तुम्हारे महान् प्रयत्न और पुरुषार्थ की जितनी भी स्तुति की जाये, थोड़ी है।

तुम सारे ही विश्वब्रह्मांड की बात घर-बैठे सुन लेते और सुना देते हो। आत्म-दर्शन का दावा पेश करनेवालों की तरह अपने अन्दर की आवाज़ सुनने का तुम हास्यास्पद प्रयास नहीं करते।

मगर इन महान् आविष्कारों के आने से पहले ही अध्यात्मवादियों ने अपनी दुर्बल कल्पना के सहारे इनका मजाक उड़ाना शुरू कर दिया था। इतनी ऊँची भौतिक सिद्धियों को, यदि वे आज होते तो; अविद्या या माया का खेल बतलाकर इन्हे योंही हँसी में उड़ा देते। आश्चर्य है कि उस प्रकार के अनिर्वचनीय विचार रखनेवाले बचे-खुचे चंद आत्मशोधक आज भी तुम्हारे अलौकिक आविष्कारों की अवगणना कर रहे हैं !

अच्छा हुआ कि तुमने उनके हँसने पर कभी ध्यान नहीं दिया। मानने दो उन्हें अन्तरात्मा को ही सारी सिद्धियों का आदिस्रोत ! उनके असिद्ध विचित्र अनुमानों पर प्रत्यक्षवादी विज्ञानी ध्यान देने का नहीं। उनके अध्यात्मयोग के चक्कर में बुद्धिशाली दुनिया फँसने की नहीं।

भौतिक आविष्कारों के प्रत्यक्ष आनन्द-लाभ के आगे असिद्ध आत्मा के कल्पित आनन्द को तरजीह देना बुद्धि का यह दिवालियापन नहीं तो क्या है ?

तुम्हारा उन्होंने मजाक उड़ाया, तो तुमने उनसे बदला भी तो पूरा-पूरा ले लिया। तुम्हारा पदार्थ-विज्ञान उनके पुराने-धुराने अध्यात्म की आज पग-पग पर खिल्ली उड़ा रहा है। रसायन-शास्त्र का विद्यार्थी उनके 'ब्रह्मरस' का उतना भी मूल्य नहीं आँकता, जितना कि अपनी प्रयोगशाला की बोतल का।

सत्य का मूल्य चूंकि तुमने वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा निश्चित किया है, अतः अब आचरण का निर्बल सहारा लेकर सत्य की शोध करने की आवश्यकता नहीं रही।

तुम्हारे उत्पादक मस्तिष्क ने एक-से-एक आश्चर्यकारक यन्त्रों का आविष्कार कर जड़ को चेतन के सिर पर आरूढ़ करा दिया है।

अध्यात्म-युग के विज्ञानी जहाँ तृष्णा और परिग्रह के क्षय करने की वाहियात सलाह देते थे, तहाँ तुम्हारे यन्त्र-युग में तृष्णा तथा उत्पादन-वृद्धि को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन मिला है। ज्ञान के चरम विकास

का यही तो सबसे बड़ा अकाट्य प्रमाण है ।

तुम्हारी चमत्कारी कलों ने उपनिषदों के 'निर्वाण-पद' को कितना सुलभ कर दिया है, इसकी कल्पना शायद तुम्हें भी न हो । 'बेकार' होकर अर्थात् कर्म के कुचक्र से छुटकारा पाकर 'कलयुग' में तुम्हारे आविष्कारों ने निर्वाण ही नहीं, महानिर्वाणतक लाखों मनुष्यों को अनायास उपलब्ध करा दिया है ।

श्रम करते-करते सृष्टि के आदिकाल से ही मनुष्य की मज़बूत कमर जैसे टूटी जा रही थी । हाथ-पैर तो उसके कभी के घिस-घिसा गये थे । तुमने उसे हाथ-पैर हिलाने-डुलाने से छुट्टी देकर विश्रान्ति देदी ।

शारीरिक श्रम का दबाव न पड़ने से मनुष्य के दिमाग़ को भी काफ़ी फ़ुरसत मिली । वह खुल गया । उत्पादन बढ़ाने और शोषण पनपाने की नई-नई योजनाएँ अब उसने सोचीं । प्रतिस्पर्धा को तुम्हारे आविष्कारों से बेहद प्रोत्साहन मिला । तुम्हारे मस्तिष्क में महोत्सव की लहरें दौड़ गईं, और उस मंगल वेला में प्रतिस्पर्धा ने स्वभावतः विनाश को भी शरीक कर लिया ।

विज्ञान ने तुम्हें परीक्षणों के सिलसिले में सत्य की स्पष्ट झलक दिखादी, पर उसका जीवन के साथ मेल बिठाना तुम्हें रुचिकर नहीं लगा ।

तुमने अपना एक दूसरा ही मार्ग चुना । विज्ञान के सहारे तुम प्रकाश से तमस् की ओर चले; अमृत से मृत्यु की ओर बढ़े । तुम्हारी यह क्रान्ति-यात्रा कोई मामूली साहस की यात्रा नहीं थी ।

वैज्ञानिक रीति से जीने के लिए तुमने विलास और विनाश को एकसाथ ही निमन्त्रण दिया । तुमने सिद्ध कर दिया कि जीवन तो संघर्ष एवं संहार के मूल में सन्निहित है । तुम मृत्यु की विभीषिका से डरे नहीं ।

मृत्यु से सतत भयभीत रहनेवाले सुरों और असुरों ने 'अमृत' निकालने के लिए सागर का मन्थन किया था । विष तो वह अनायास

ही उनके हाथ लग गया था, जिसे उन्होंने अपनी मणि-मंजूषा में रखा नहीं ।

तुमने उससे उलटा ही किया। मस्तिष्क के महासागर को विज्ञान की मथानी से मथकर तुमने प्रयासपूर्वक हालाहल निकाला। इस महाप्रयत्न में थोड़ा-सा अमृत भी हाथ लग गया, पर उसे तुमने निकम्मी चीज़ समझकर फेंक दिया, जैसे देवों और दैत्यों ने विष को फेंक दिया था ।

विष-प्रयोग की तुम्हारीं महत्त्वाकांक्षा में नीति कुछ वाधा डाल रही थी,—उसे अर्थवाद के नीचे तुमने कौशलपूर्वक दबोच दिया ।

विश्व की रक्षा और व्यवस्था की खातिर, पवित्र उद्देशों से प्रेरित होकर, तुमने विश्व-संहार की नई-नई योजनाएँ रचीं। जीने की खातिर मृत्यु को सप्रेम आमन्त्रण दिया।

इस उद्देश-सिद्धि के अर्थ तुमने महाप्रलय की अग्नि उगलनेवाले अणु-आयुधों का निर्माण किया; ज़हरीली गैसों के कोष संचित किये; समुद्र के गर्भ में महाकाल का भयानक जाल बिछा दिया ।

मालूम नहीं, तुम्हारे प्रयोग और आविष्कार विकसित होते-होते अभी और कहाँतक पहुँचें। भविष्य में तुम्हारे वैज्ञानिक मानव की कैसी क्या शक्ल होगी, इसका तो तुम्हें ही शायद आज पता न हो।

कल्पना को खींच-खींचकर बढ़ाया-फैलाया जाये, तो शायद वह विज्ञान-मानव वहाँतक पहुँच जाये, जहाँ तुम्हारा विज्ञान उसे एक 'अनावश्यक' प्राणी घोपित करदे, और वह अनावश्यक प्राणी दुनिया में अवकाश प्राप्त करते-करते अपने मुक्तिदाता विज्ञान को सदा के लिए दफना दे, और इस तरह दोनों की दोनों में परिसमाप्ति हो जाये।

वैज्ञानिक ! तो क्या तुम उसी मंगल विकास की प्रतीक्षा में खड़े हो ?

आश्रमवासी से

तब उन दिनों, बहुत पहले, 'आश्रम' शब्द की संकुचित, बल्कि, भ्रामक व्याख्या की जाती थी। सुनते हैं, आश्रम तब उस स्थान को कहते थे, जहाँ कोई-न-कोई आध्यात्मिक साधना हुआ करती थी।

अच्छा हुआ कि तुमने उस संकुचित और भ्रामक व्याख्या को भी, कई अनेक चीजों की तरह, व्यापक और निःसंशय बना दिया। आज तो बहुत करके उस स्थान को आश्रम कहते हैं, जो बहुधा राजनीति के पवित्र वातावरण से आच्छन्न रहता है, जहाँ अधिकतर भौतिक विषयों पर विचार-विनिमय होता है, किंतु आध्यात्मिकता को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा जाता।

तब के साधक घोर अरण्यों में अपने आश्रम बनाते थे, और इसी-लिए उन अरण्यवासियों के जीवन के अनुभव-संवाद आरण्यक, या अधिक

स्पष्ट और शिष्टभाषा में कहा जाये तो जंगली संवाद कहे जाते हैं ।

तुम्हें लगा कि इस भारी भूल का संशोधन तो होना ही चाहिए, अतः तुमने अपने आश्रमों का निर्माण बड़े-बड़े नगरों के पार्श्व मे जाकर किया, और वहाँ बैठकर नागरिक विज्ञान की या शिष्ट-शास्त्र की रचना की है ।

नामकरण तब एक पृथक् संस्कार तो माना जाता था, पर सार्थक नामों का खोजना उन्हें ठीक-ठीक ज्ञात नहीं था । आज की तरह तब आश्रमों के ऐसे-ऐसे सुन्दर नाम नहीं रखे जाते थे, जैसे कहाँ था तब कोई 'शांति-सदन', 'सत्य-आश्रम', 'सेवा-निवास', 'कर्म-कुटीर' या साधना-मन्दिर' ?

कणों और पीपलों को बीन-बीनकर भक्षण करनेवाले दरिद्र कणाद और पिप्पलाद अपने आश्रमों के ऐसे-ऐसे मनोरम नाम रख भी तो नहीं सकते थे ।

साथ ही, इन मनोज्ञ नामों का तुमने अर्थ भी खासा व्यापक बना दिया है । तुम्हारे किसी साधना-मन्दिर में अर्थ-विस्तार-योजना पर गम्भीर विचार होता है, तो किसी शान्ति-सदन में चुनावों की चर्चा चला करती है ।

इसीलिए तो उन आरण्यकों के वाद-विवाद के विषय इन अत्यन्त सरस चर्चाओं के आगे महानीरस और निरर्थक प्रतीत होते हैं ।

तब शायद लोक-सेवा भी इतने अधिक विस्तार से नहीं की जाती थी । सेवा-धर्म को 'योगिनामप्यगम्यः' कहकर, मालूम होता है, वे अरण्यवासी तब बहुत करके उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे । काष्ठ और पाषाण के सम्पर्क मे रहने से उन्हें लोक-सेवा-सदृश सुगम्य साधना भी अगम्य ही मालूम देती थी ।

अच्छा हुआ कि तुम अर्वाचीन आश्रम-वासियों ने उस पुराने-धुराने भ्रम का भी निवारण कर दिया ; सेवा-धर्म तभी तो आज इतना सहज और सर्व-सुलभ बन गया है ।

हाँ, कहाँ थे तब लोक-सेवा-कर्म के इतने तमाम विशाल संघ, इतने ज़ोरदार संगठन ? तुम सहज में सैकड़ों-हज़ारों सेवकों का निर्माण कर सकते हो। निर्धारित सेवा-पत्र पर हस्ताक्षर कर देनेमात्र से कोई भी आज लोक-सेवक बन सकता है।

अरण्यवासियों का हृदय इतना अधिक संकीर्ण था कि वे केवल अपनी ही बुद्धि और अपने ही उद्धार पर ज़ोर दिया करते थे ; तहाँ, तुम उदारहृदय आश्रम-वासी राष्ट्र और विश्व की विशुद्धि और उद्धार का विराट् आयोजन रच रहे हो। कारण, तुम्हारी दृष्टि में व्यापक क्षेत्र में साधा गया प्रयास ही परम पुरुषार्थ है।

उन्होंने कल्पित अदृष्ट आत्मा को पखारने, माँजने और सँवारने में पुरुषार्थ माना था। तहाँ, तुमने उपेक्षित काया की सेवा-साधना में श्रेयस् माना है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्' इस आर्ष वचन का ठीक-ठीक अर्थ समझने का प्रयत्न तुम आश्रम-वासियों ने ही किया है।

उन आरण्यकों की तरह तुमने काया को व्यर्थ कसा या बाँधा नहीं ; शरीर और स्वास्थ्य की तुमने हमेशा चिंता रखी। किंतु स्वास्थ्य भी यह कैसा अकृतज्ञ है कि कमबख्त सदा रूठा ही रहा। न इसने तुम्हारे शास्त्रीय प्रयोगों की पर्वा की, न तुम्हारी सतत शरीर-सेवा का ही कुछ एहसान माना !

इस कृतघ्न आरोग्य की खातिर तुमने सैध्दान्तिक मतभेद रखते हुए भी विभिन्न चिकित्साओं को अभेद-दृष्टि से ही देखा, पर ज्यों-ज्यों इस की खुशामद की, यह रूठता ही गया।

तुम्हारी गोष्ठी के वाद-विवाद का विषय प्रायः खाद्य वस्तुओं के नये-नये प्रयोगों का रहता है,—जैसे, दूध, दही और फलों के रस का शास्त्रीय विवेचन, मिर्च-मसाले का विकट बहिष्कार, कच्चे और उबले सागों के बीच का घातक अंतर, विविध विटामिनों का सूक्ष्मतम विश्लेषण इत्यादि।

तुम्हारा अतिशय प्रिय विषय अतः स्वास्थ्य-सुधार है,—वैसा ही, जैसे

धर्म-सुधार, समाज-सुधार, ग्राम-सुधार आदि । स्वास्थ्य तुम्हारा मकड़-जाले के तारों पर चूंकि आधार रखता है, इसलिए उसकी साधना भी तुम सूक्ष्म विश्लेषणों द्वारा किया करते हो ।

तुम जब किसी ग्रामीण गृहस्थ के घर पर समय-असमय उसके सौभाग्य से पहुँच जाते हो, तो तुम्हारा सादा सात्विक भोजन जुटाना उसके लिए एक समस्या बन जाता है । और यदि तुम्हारे जैसे दो-चार प्रयोग-प्रेमी अतिथि कहीं पहुँच गये, तब तो उसके आनन्द-उत्साह का कुछ पार ही नहीं रहता !

और यह कैसी बात है कि जो बहुत-से काम ग्रामीण गृहस्थों के घरों में रोज़-रोज़ होते रहते हैं, उनकी तरफ़ तो तुम्हारा ध्यान भी नहीं जाता, और उन्हीं चीज़ों के जब तुम अपने आश्रमों में कच्चे-पक्के प्रयोग करते हो, तो उनके समर्थन में तुम्हारे बड़े-बड़े दावे सामने आने लगते हैं ? अद्भुत है कि किसी गृहस्थ के सामान्य घर को किसीने आजतक आश्रम नहीं कहा ।

कहते हैं कि परिग्रह से तुम तो पिंड छुड़ाना चाहते हो, पर तुम्हें वही कमबख़्त नहीं छोड़ता । तुम्हारे इस प्रेमाकर्षण की फिर कोई क्यों टीका-टिप्पणी करे ?

और जो स्वाभाविक है, उसकी टीका-टिप्पणी करने से कोई लाभ ? आश्रम-जीवन के साथ परिग्रह का होना अस्वाभाविक नहीं और फिर यह बात भी तो नहीं कि असंग्रह हमेशा ही श्रेयस्कर होता है ।

लोग अत्यधिक आशा आखिर आश्रम-वासी से रखते क्यों हैं ? उन की दृष्टि में क्या केवल कौपीन-कमंडलधारी मानव-प्राणी ही आश्रम-वासी हो सकता है ?

यह अत्यधिक संतोष की बात है कि लोगों की-टीका की तुम पर्वा नहीं करते ; और यह कोई तुम्हारी असाधारण साधना नहीं ।

युवक से

जैसे कवि है, कलाकार है, सैनिक है, नेता है, वैसे ही तुम्हारा भी एक सुव्यवस्थित स्थान है । तरुण, तुम्हारा भी अपना एक संप्रदाय है, अपना एक विज्ञापन है ।

वैसे यौवन कोई नई चीज़ नहीं; अस्तित्व उसका सनातन से चला आ रहा है । पर पुराकाल में उसका कोई विशिष्ट संप्रदाय नहीं था; सुयोजित विज्ञापन तब उसका दुनिया के सामने नहीं आया था ।

वृद्धों ने सदा तुम्हारी अप्रिय ही टीका की, फिरभी तुम्हारे पूर्वकालीन युवक उनकी टीका से रुष्ट नहीं हुए । शायद उनके संक्रामक असर से वे अकालवृद्ध हो जाते थे । आत्मदुर्बलता-द्योतक शील उनके तारुण्य को अन्दर-ही-अन्दर खोखला करता चला जा रहा था, और उन्हें उस महान् क्षय का पता भी नहीं चलता था ।

बाद को तुम्हें अपने पूर्व के युवकों की यह दुर्बलता नज़र आई, और यौवन-पुष्प को पूर्ण विकसित कर देनेवाली अविनय-उषा को तुमने प्रगाढ़ालिंगन दिया ।

तुम्हें यह सत्य सूर्यवत् स्पष्ट हो गया कि शील और विनय के रहते, जो निश्चय ही बुढ़ापे के सहचर हैं, यौवन का मादक पुष्प कभी खिल नहीं सकता ।

विनय की खुरदरी रस्सी से जीर्ण-शीर्ण शरीर ही आबद्ध रह सकता है । युवक-शक्ति के ज़ोरदार झटके को दुर्बल विनय कहाँ सहन कर सकती है ?

तरुणाई तो वह प्रबल बाढ़ है, जो शील और विनय के जीर्ण ठूँठों को सहज ही बहा ले जाती है ।

विनय के ज़ोर से गलितयौवन ही झुकते हैं । शक्तिधर तारुण्य को झुकाने की कहाँ उसमें ताक़त है ? उद्दण्डता उसका भूषण है और नम्रता दूषण ।

आँखों पर आवरण न चढ़ा हो, वह युवक ही कैसा ? तुम्हारी उत्तान आँखों में खुमारी का भरा रहना स्वाभाविक है । इसीलिए सीधा पैर रखना तुम्हारे शास्त्र में अधर्म है । यौवन जिनका गलित हो चुका है, वही नाप-नापकर या फूंक-फूंककर पैर रखते हैं । कूद-फाँद करनेवाले अल्हड़ युवक ज़मीन की तरफ़ देख-देखकर नहीं चला करते ।

गंभीर विचार और उच्च चिंतन तुम्हारे सामने आने की जुर्रत नहीं करते । तुम इन मानसिक दोषों से सदा सावधान रहते हो । तुम मानते

हो कि विचार और चिंतन से यौवन में शैथिल्य आ जाता है, उसकी सहज तेजस्विता मारी जाती है ।

सर्वत्र ही तुम खूब खुलकर खेलते हो। न तो किसीको बाँधना चाहते हो, न स्वयं बँधना चाहते हो। नियंत्रण का पाप-भार तुमने कभी सहन नहीं किया।

तरुण शक्तियों को तुम अत्यन्त उदारता से खर्च करते हो। संयम-शीलता, तुम्हारी दृष्टि में, कृपणता नहीं तो क्या है ?

तरुण कभी कृपण नहीं हुआ करता। और जो हृदय का उदार है, उसका क्या सरोकार विचार और चिंतन से ? सोचते-विचारते तो कृपण जन हैं, जिन्हें सदा शक्ति-संचय का ही लोभ रहता है ।

बाढ़ ने कभी ठहरना नहीं जाना, उसने सदा वेग को ही पहचाना है। ठहरना, रुकना और सड़ना तो पोखरे के जीर्ण जल का धर्म है।

यों तुम्हारे विपक्ष में भी काफ़ी कहा गया है। किंतु आलोचना के आघातों से जगत् में बचा ही कौन है ?

एक भारी आरोप तो तुम्हारे ऊपर यह किया जाता है कि तारुण्य ने विषय-विकारों को बेतरह उत्तेजन दिया है। सही है, पर विकारों को निन्दित और त्याज्य क्यों माना जाये ?

विषय-विकारों को यदि तुम बलपूर्वक रोकना या निर्दयता से बाँधना नहीं चाहते तो क्या यह कोई गुनाह है ? स्वाभाविक है कि युवक का सरस हृदय अपने किसी विकार पर अंकुश नहीं रखना चाहता। यौवन का तकाज़ा है कि तुम निरंकुश विचरो, और तुम्हारे मनोविकार भी सदा सर्वथा स्वच्छन्द विचरें।

फिर तुमने सभी मनोविकारों को बिना भेद के एक समान ही उत्तेजन दिया है। कभी काम को हृदय से चिपटाया, तो कभी क्रोध को; इसी तरह कभी विराग को और कभी अनुराग को। तुमने अहंकार और द्वेष से भी घृणा नहीं की। मोह को भी सदा तुमने प्यार ही किया और

इसी प्रकार मात्सर्य को भी। मनोविकारों के प्रति फिर तुम्हारे निष्पक्ष प्रेम की क्यों कोई टीका-टिप्पणी करे ? तुम्हें तो सभी मनोविकारों के अंगीकार में एकसमान ही आनन्दानुभव होता है।

विचार तो ठंडे मट्ठे के जैसा है, उसे तुम क्यों ग्रहण करोगे ? तुम्हें तो स्वभावतः गरम चाय के जैसा उत्तेजक विकार-पेय ही प्रिय होना चाहिए।

तुम जानते हो कि यौवन की सुखद यात्रा में एक-न-एक 'रोमांस' का होना आवश्यक है। रोमांसहीन यौवन तुम्हारी दृष्टि में बिना गन्ध का फूल है।

चढ़ती हुई जवानी में उस प्रेम का होना ज़रूरी है, जिसे बूढ़े आलोचकों ने मोह और पाप कहा है: उस जोश का होना उसमें अनिवार्य है, जिसे उन ईर्ष्यालु टीकाकारों ने अविचार और दुस्साहस समझा है; उस स्वातंत्र्य का होना उसमें आवश्यक है, जिसे उन्होंने अविनय और अनियंत्रण का नाम दे रखा है।

और सच पूछा जाये तो इन्हीं ऊँचे तत्त्वों से यौवन का निर्माण होता है। यौवन के सुनहरे स्वप्न इन्हीं तारों से बुने जाते हैं, क्योंकि युवक तो सदा स्वप्न ही देखता है ; न कभी वह सोता है, न जागता है। सोते तो अबोध शिशु हैं, और जागते हैं चिंताजर्जरित वृद्ध जन।

स्नप्न भी तुम्हारे गज़ब के होते हे। कभी तो तुम तेज़ाब के जैसे प्रणय के सुखद वायुमण्डल पर तैरने लगते हो, और कभी द्वेष के शांतिप्रद दावानल को प्रगाढ़ालिंगन देने लग जाते हो। तुम्हारे राग और तुम्हारे विराग दोनों के ही स्वर्ण-स्वप्न मधुमग्न देखे गये हैं।

तुम एक ही क्षण में अपना तन, अपना मन और अपना सर्वस्व कोमल-कठोर वासनाओं के श्रीचरणों पर अर्पण कर देते हो। तुम अपने यौवन-काल में कवि-जगत् की नई-पुरानी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग करते-करते कभी थकते नहीं।

तुम्हारी मान्यता है कि कमबख्त मनुष्य-योनि प्रेम-तत्त्व को प्रकट करने के लिए उपयुक्त नहीं। इसलिए तुम कभी तो भ्रमर और कीट बन जाते हो, तो कभी चकोर और चातक, और कभी मीन और मयूर! ठोस आलोचक तुम्हारे उन्मुक्त कल्पना-विहार को मोह और अस्वच्छता के पंक में सना भले ही देखें, तुम तो अपनी जबान और कलम से उसे शुद्ध एवं दिव्य प्रेम ही कहोगे।

'दिव्य' की व्याख्या भी तुम्हारी अनूठी है। तुम स्वर्ग को भी देखते हो, तो शैतान में। तुम्हारे ईश्वर का वास वासना में है, अतः तुम्हारी प्रत्येक वासना दिव्य है। जिसे कि वे नरक मानते हैं उसे तुम स्वर्ग कहते हो; और जिसे वे स्वर्ग समझते हैं, उसे तुम नरक कहते हो। वृद्ध-दृष्टि और युवक-दृष्टि में यही तो मौलिक अन्तर है।

जो जैसा हो उसको वैसा ही देखना या मानना युवक का धर्म नहीं। यथार्थ दर्शन तो जड़ या स्थिर बुद्धिवालों का व्यापार है। स्थिरप्रज्ञता का दोष तुम तरुणों में क्यों खोजा जाये?

तुम्हारे एक-एक शब्द को वज्र के हथौड़े ने गढ़ा है, यद्यपि होता वह मोम का है। जब तुम बोलते हो, तुम्हारी शब्द-योजना तब अत्यन्त भीषण और मोहक होती है।

तुम्हारा स्वाभाविक गुण अहंकार फूला नहीं समाता, जब तुम छाती ठोक-ठोककर कहते हो—

"सागर को मैं श्वास के स्फुलिंगों से ही सुखा दूँगा; हिमाद्रि की पसलियों को अपने वज्र-मुक्के से चूर-चूर कर दूँगा।

मेरे गम्भीर गर्जन से पृथ्वी थर-थर काँपने लगेगी;

सूर्यमंडल को तो मैं एक ही झटके से नीचे गिरा दूँगा;

मैं युवक हूँ; मैं विप्लव का प्रलयंकर रक्त-दूत हूँ।"

यथार्थवादी आलोचक तुम्हारा सिंहनाद सुनकर शायद कह उठे—'यह सब तो उन्मत्त-प्रलाप है। न तो सागर ही कभी सूखा, न हिमाद्रि को

पसलियाँ ही चूर-चूर हुईं; न पृथ्वी ही कुछ डगमगाई, और न सूर्यमंडल ही एक-दो इंच खिसका।"

आलोचक बेचारा इसीलिए गड़बड़ में पड़ जाता है कि बहुत रुणों की अतुकांत कविता का अर्थ ठीक-ठीक समझता नहीं। गणित का दुर्बल ज्ञान रखनेवाला ठोस आलोचक युवक के रोमांचकारी भावों और भाषा का अर्थ भला कभी समझ सकता है ?

अहंकार और मनोविकारों को दबाने या दफना देने का दुर्भाग्यपूर्ण प्रयत्न करनेवालों की घातक बुद्धि तुम्हारी कठिन-कोमल भाषा के अंत-स्तल में प्रवेश पा ही नहीं सकती।

कई पूर्वकालीन युवकों ने पथभ्रष्ट होकर अपनी यौवन-सम्पत्ति को कठोर तपश्चर्या की अग्नि में झोंक दिया था। यौवन-काल के आरंभ में ही वे रोग, जरा और मृत्यु की थोथी कल्पना से भयभीत हो उठे थे। जीवन के रमणीय वसन्त में उन अभागों ने अपने हाथों आग लगा दी थी, और इसी तरह रक्त-संघर्ष से भी पीछे क़दम हटा लिया था।

आश्चर्य कि उलटी खोपड़ी के कुछ स्तुतिकारों ने उनके ऐसे-ऐसे युवक-विरुद्ध आचरणों की भी महिमा गाई ! उन अकालवृद्ध युवकों की नीरसता को बड़ी शान से 'मार-विजय' का नाम दिया गया और उनकी कायरतामूलक शांति-यात्रा को विश्व-विजय के नाम से पुकारा गया।

युवकों को उनके इस कुकृत्य से शर्मिन्दगी उठानी पड़ी।

उनके उन अनुचित कृत्यों का इसीलिए आज तुम्हें भारी प्रायश्चित्त करना पड़ रहा है। काम और क्रोध को अपने रक्त से सतत सींच-सींच-कर उस ऐतिहासिक कलंक को आज तुम्हें धोना पड़ रहा है।

तुमने तार दिया पूर्वकाल के उन पथ-भ्रष्ट तरुणों को। तुम धन्य हो, तुम्हारा जीवन-क्रम सचमुच स्तुत्य है।

वृद्ध से

लोगों का घोर अज्ञान ही है यह, जो उनसे कहलाता है कि तुम वृद्धावस्था के काल-दण्ड से हर घड़ी परेशान रहते हो। तुम्हारे श्वेत केशों और निर्दन्त मुँह ने तो तुम्हें आज बालकों और युवकों की दृष्टि मे बिना प्रयास के ही श्रद्धा-भाजन बना दिया है।

ये शुभ दिन तुम्हें कितनी प्रतीक्षा के बाद देखने को मिले हैं, इसका अनुमान आलोचक युवकों को हो नहीं सकता। दूसरों से सेवा लेने की तुम्हारी वह सुन्दर जीवन-साध आज जाकर कहीं पूरी हुई।

शरीर यों शिथिल न पड़ गया होता, तो दूसरों से सतत सेवा लेने का यह सुयोग तुम्हें मिलता ही कहाँ ? उन्हें भी तो तुमने कृतार्थ किया है, जिन्हें सेवा करने का यह स्वर्ण अवसर हाथ लगा है।

निरन्तर सेवा लेते-लेते उनके धैर्य की तुम कड़ी परीक्षा भी तो ले रहे हो। अतः परेशान तो सेवक ही हो सकता है, सेव्य कदापि नहीं।

अच्छा है कि तुम उनकी सेवा-शुश्रूषा से कभी संतोष नहीं मानते।

तुम्हें आशंका बनी रहती है कि संतोष प्रकट करने से कहीं उनकी गति मन्द न पड़ जाये, और इस तरह वे कृतकृत्य होने के महान् पुण्य से वंचित हो जायें।

मगर सेवा-व्रती भी ऐसे-ऐसे शूरवीर मिल जाते हैं, जो तुम्हारे

असन्तोष को पराजित करके ही छोड़ते हैं। वे समझ लेते हैं कि तुम रीझोगे तो केवल सेवा-सुश्रूषा से ही; तुम्हारी वृद्धा बुद्धि के आगे नई-नई दलीलें काम नहीं देंगी।

क्या बात है कि युवकों के हर काम में तुम कुछ-न-कुछ दोष खोजते रहते हो ? अपने लम्बे घिसे-पिसे अनुभवों के आगे तुम्हें उनका हरेक काम अधूरा ही दिखता है क्या ?

और वे भी कैसे मूर्ख हैं, जो तुम्हें मन्द दृष्टिवाला समझकर धोखा देना चाहते हैं। कमबख्त यह नहीं जानते कि तुम बूढ़ों की दृष्टि को ईश्वर ने चार-चार कान दिये हैं। देखने का काम तुम कानों से चला सकते हो, और सुनने का काम आँखों से।

अद्भुत है कि तुम्हारी एक इन्द्रिय शिथिल पड़ जाती है, तो दूसरी इन्द्रिय में तेज़ी आ जाती है। जिह्वा में तो ऐसी स्फूर्ति और जवानी कि, देखकर आश्चर्य होता है। तुम्हारी वाणी का प्रवाह रुकना नहीं जानता। सुननेवाला कोई न भी हो, तबभी बोलना तुम्हारा उसी निर्बाध गति से सतत जारी रहता है।

स्वाद की परिपूर्ण रसज्ञा भी तुम्हारी ही जिह्वा होती है, क्योंकि बालक को तो कुछ भी ले-देकर फुसला लिया जासकता है, और युवक को उसके यौवन की मस्ती भुलावे में डाले रहती है, लक्कड़-पत्थर भी वह चबा जाता है, और स्वाद का उसे पता भी नहीं चलता।

तुम कितने अधिक सहृदय हो कि जर्जरीभूत काया के प्रति भी तुम्हारी मोह-माया दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। जिस देह ने तुम्हें तीनों पनों में बेहद सुख पहुँचाया, उसके प्रति चौथे पन में अत्यधिक अनुराग का होना स्वाभाविक भी है। देह के प्रति विराग तो विरले ही किसी कृतघ्न वृद्ध को होता होगा।

युवावस्था में किसी रोचक 'रोमांस' के फेर में पड़कर दुनिया को भले ही तुमने कभी मिथ्या माना हो, पर वृद्धावस्था में तो तुम उसे सत्य और सुखद ही मानते हो। संसार से ऊबकर आत्मघात अधिकतर

अधीर युवक ही किया करते हैं, प्रबुद्ध वृद्धजन ऐसा पाप-कर्म कभी नहीं करते।

तुम खीज उठते हो कि लोग तुम्हें राम-नाम जपने का उपदेश क्यों देते हैं ? जिसकी आँखों के सामने सारे जीवन का लेखा-जोखा रहा हो, कितने ही अधूरे काम करने को पड़े हों, और बुढ़ापे में आराम से कुछ सोचने की फुर्सत मिली हो, वह दुनिया से विदाई लेते समय क्यों व्यर्थ राम का नाम जपे ?

यह तो ध्रुव-प्रह्लाद-जैसे अबोध बच्चों का काम है, जिनके सुकुमार कन्धों पर न तो कोई ज़िम्मेदारी लदी होती है, न भला-बुरा सोचने की कुछ समझ ही।

समाज ने तुम्हारे विरुद्ध पुरा काल में न जाने क्यों यह काला क़ानून बना डाला था कि चौथे पन में तप करना आवश्यक है ; और घर से तुम क़ानूनन निकाल बाहर कर दिये जाते थे। सद्भाग्य है कि आज वह दुष्ट क़ानून रद हो गया। अब न तुम्हें तप की ज़रूरत है, न जप की। जप-तप तो अनाथ, अपाहिज लोग किया करते हैं ; तुम्हारे जैसे पुत्र-पौत्रादि-संपन्न भाग्यवान वृद्ध पुरुष नहीं।

फिर तुमने तो सारी ज़िंदगी तप ही किया। गृहस्थी का भारी भार लादकर चलना क्या कोई मामूली तप है ? उस महातप का ही यह सुफल है कि वासना और तृष्णा-जैसी दैवी सम्पदाएँ तुम्हारे सामने आज हाथ बाँधे खड़ी हैं।

तुम्हारी ज़िम्मेदारी कम नहीं हुई, बल्कि कुछ बढ़ी ही है। लड़कों की अध-कच्ची बुद्धि पर तुम्हारा विश्वास नहीं। जिसने इतना लंबा ज़माना देखा हो, वह सहसा किसीपर विश्वास करे ही क्यों ?

तुम मानते हो कि तुम्हारे परिपक्व निर्णयों पर जो विश्वास नहीं करता, वह ग़लती करता है, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि में बूढ़े आदमी जो भी निर्णय कर देते हैं, वह सदा विशुद्ध ही होता है।

तुम यह भी मानते हो कि लड़के किसी शुद्ध निर्णय पर पहुँच ही नहीं

सकते, और तुम्हारी व्याख्या क अनुसार वे सब लड़के ही हैं, जिनकी उम्र तुम से कम है,—कम चाहे एक-दो साल ही क्यों न हो !

युवक कहते हैं कि उनके 'अविनयी' बनने की बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी तुम वृद्धों पर है,—तुम लोगों ने बलात्कारपूर्वक उनसे आज्ञापालन कराने का हमेशा ही प्रयत्न किया और इसीलिए वे तुम्हारे खिलाफ़ विद्रोही बन गये।

तुम्हारा उत्तर बिल्कुल सही है कि युवकों का यह आरोप भी पूर्ण अविनय से भरा हुआ है। तुम उसी युवक को विनयशील मानते हो, जो तुम्हारे सामने न तो आँख मिलाने की जुर्रत करता है, न मुँह खोलने की,—जो बुज़ुर्गों के निर्णय को कभी शंका की दृष्टि से नहीं देखता, और उनकी बात का जवाब देना जो घोर पाप समझता है।

ऐसे विनयशील पुत्र-पौत्रादि तुम्हारे भाग्य में दुर्लभ हैं, अतः कलि-युग को तुम प्रतिक्षण पानी पी-पीकर कोसते रहते हो,—वैसे ही, जैसे कि तुम्हारे पिता ने तुम्हें और तुम्हारे पितामह ने तुम्हारे पिता को कुपूत कहकर कोसा था।

तब क्यों न यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया जाये कि बालक और युवक हर ज़माने के सब-के-सब कलियुगी ही होते हैं, और वृद्धजन सब-के-सब सतयुगी ?

बुढ़ापे ने तुम्हारी दृष्टि को इतना तेज़ कर दिया है कि अनागत काल्पनिक खतरे को भी तुम बहुत दूर से देख लेते हो। इसीलिए दूसरों के किये पर तुम अत्यधिक आपत्ति करते हो। ऐंसी कोई भी चीज़ तुम्हारी नजर से नहीं गुज़री होगी, जिसपर तुमने कोई-न-कोई आपत्ति न उठाई हो। प्रतिक्षण चेताते रहने का तो तुम्हारा मानो स्वभाव बन गया है।

सलाह देना,—अक्सर बिना चाहे ही—तुम्हें बहुत पसन्द है। सलाह भी तुम्हारी काफ़ी लम्बी होती है। 'ज़रा देखो, कुछ सोचो और समझो'—ये बुज़ुर्गाना शब्द तुम्हारी सलाह में ज़रूर रहेंगे। मौत कभी

तुम्हें बुलाने आयेगी, तो उस नासमझ को भी तुम शायद ऐसी ही नेक सलाह दोगे।

निरीक्षणों और अनुभवों का तुम्हारे सिर पर इतना भारी बोझ रखा हुआ है कि पैर मुश्किल से आगे को उठते हैं। क़दम किसी तरह उठ भी गया, तो उसे आगे रखने में हिचक होती है। तुम्हारी परिमार्जित शंकाशीलता ने ही तुम्हें इतना अधिक सावधान बना दिया है!

तुम्हारी अनुभवसिद्ध सतर्कता का ही यह सुपरिणाम है, जो तुम हर बालक और हर युवक को सन्देह की ही दृष्टि से देखते हो। तुम्हारी यह वृद्धोचित धारणा बिल्कुल दुरुस्त है कि शंका या सन्देह से परे तो केवल एक तुम्हीं हो।

अपनी बात मनवाने में तुम बहुत ज्यादा जिद किया करते हो, क्योंकि तुम्हें भरोसा है कि तुम्हारे सफ़ेद बालों ने और इस पोपले मुँह ने तुम्हें निस्सन्देह अंतिम निर्णय पर पहुँचा दिया है, अतः तुम्हारी बात मान लेने में ही परमकल्याण है।

जगत् के प्रति तुम्हारी कल्याण-कामना इतनी अधिक बढ़ गई है कि युवकों को ही नहीं, बालकों को भी तुम अपने-जैसे ही समझदार, प्रशांत और धीर प्रकृति के देखना चाहते हो। तुम्हें कैसा लगता होगा उन्हें देखकर कि वे इतने चुलबुले, इतने अधीर, इतने अल्हड़ और ऐसे नासमझ आखिर क्यों हैं?

पर तुम शायद तब यह भूल जाते हो कि अज्ञानसूचक उनके कृष्ण-केश अभी श्वेत कहाँ हुए हैं, अल्हड़ यौवन के प्रतीक दाँत अभी कहाँ झड़े हैं, उद्धतता की निशानी कमर अभी कहाँ झुकी है?

तुम्हारे हृदय में रह-रहकर जलन पैदा होती होगी कि इन बालकों और युवकों में क्यों इतना उबाल या उफान आ रहा है! ये उद्धत उद्दण्ड प्राणी तुम्हारे ही जैसे शिथिलाङ्ग और शांत क्यों नहीं हो जाते!

तर्कवादी से

मानव-धर्म की धार पुरातन काल में शायद बहुत ही कुंठित रही होगी, ज़हन तब एकदम कुन्द रहा होगा। क्योंकि मामूली-से-मामूली चीज़ को भी तब का मानव अतर्क्य और अचिंत्य कह दिया करता था।

तब कहते थे कि जो वस्तु अतर्क्य हो, उसमें तर्क को खामखा मत भिड़ाओ। तर्कबुद्धि का प्रयोग करने से पहले ही वे उसकी असमर्थता या अगम्यता को स्वीकार कर लेते थे।

तुमने तब की उस दयनीय मनःस्थिति को आज एकदम बदल दिया है। तर्क की सिली पर घिस-घिसकर उसकी मोथरी धार को तुमने आज इतना तेज़ कर लिया है कि वह चाहे जिस पक्ष को काट सकती है। अतः आज न कोई वस्तु अकाट्य है, न कुछ अतर्क्य है, न अचिंत्य।

तुम्हारे युक्तिवाद के अस्त्र की धार दोनों ही ओर तेज़ है। अतः एक साथ ही दो-दो, तीन-तीन-पक्षों को काट देने की उसमें पूरी क्षमता

है। बुद्धि तब अत्यन्त दुर्बल होने के कारण सत्य और असत्य के बीच व्यर्थ ही उन लोगों ने एक ऊँची दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर रखी थी। और इसी प्रकार स्याह और सफेद को एक दूसरे के विरुद्ध करार दे दिया था।

तुमने अब उस भ्रांति-जाल को अपने तर्क-शस्त्र से खण्ड-खण्ड कर डाला है। सत्य और असत्य के बीच तत्वत: तुम कोई खास फ़र्क नहीं करते; और स्याह और सफ़ेद को भी तुम वैसा परस्पर-विरोधी नहीं मानते। जगत् का इस प्रकार तुमने बहुत बड़ा उपकार किया है।

तुम चाहे जिस पक्ष को अपनी विलक्षण युक्तियों से सतेज कर देते हो। मानव-बुद्धि को तर्कवाद का शुद्ध आधार देकर तुमने अच्युत बना दिया है।

तुम्हारी यह नई शोध भी अभिनंदनीय है कि बुद्धितत्त्व को आचरण-धर्म न मानकर केवल शास्त्रीयवाद का वाहन माना जाये। तुम्हारा विकास इसी कारण पूर्णतातक पहुँच गया है, कि तुम खालिस बुद्धि-वादी हो।

दलील को तुमने विचार-विनिमय के क्षेत्र में इतना ऊँचा पद दे डाला है कि चिंतन, अनुशीलन, अनुभव और आचरण की आज वैसी क़ीमत नहीं रहीं।

तर्क की बेलिहाज कसौटी पर कसे जाने के भय से अंदरूनी आवाज़ या आकाशवाणी सुनने या ईश्वर का आदेश पाने के अब वैसे हवाई दावे खड़े नहीं किये जा सकते।

तुम्हारे युक्तिवाद ने सबसे बड़ा काम तो यह किया है कि किसीभी सिद्धान्त को उसने बिना अपवाद के नहीं रहने दिया। तुमने अपवाद के भी अपवाद खोज निकाले हैं, और सिद्धान्तों को अपवादों के स्तरों से इतना अधिक लाद दिया है कि वह सारा ही ढँक गया है।

युक्तिमान्य अपवादों ने सिद्धान्त या नियम को इतना अधिक लचीला बना दिया है कि कोई भी कड़े-से-कड़ा व्रत बिना किसी हिचकिचाहट के

लिया जा सकता है, और उसे तोड़ा भी जा सकता है।

'करूँगा' के पहले एक 'प्रयत्न' शब्द जोड़ देनेमात्र से प्रतिज्ञा की किश्ती का तैरना एकदम आसान हो जाता है।

नये-नये अर्थों की गुंजाइश हर जगह रखने में तुमने सचमुच भारी उदारता और दूरदर्शिता से काम लिया है।

और यही कारण है कि तुम्हारी अनेकमुखी भाषा में 'परन्तु', 'यद्यपि,' 'सम्भवतः' 'शायद' 'लगभग' आदि लचकदार शब्दों की भारी भरमार रहती है। ऐसे ही, तुम्हारी 'हाँ' और तुम्हारी 'ना' का भी अर्थ सामान्य अर्थ से बहुधा कुछ भिन्न-सा ही होता है।

तुमने साबित कर दिया है कि बौद्धिक विकास की चकाचौंध रोशनी में चाहे जैसी असंगतियों को संगत सिद्ध किया जा सकता है।

तुमने अपने अपरास्त युक्तिबल से जगत् में असम्भव या अशक्य कुछ भी नहीं रहने दिया। तुमने निराकार वस्तुओं का भी संगठन कर दिखाया; शून्य का भी बटोर-बटोरकर ढेर लगा दिया।

शायद ही ऐसा कोई सिद्धान्त, ऐसा कोई नियम नज़र आता है, जिसके अनेकानेक अर्थ न किये गये हों। दलीलों के डर से अर्थ हमेशा काँपता ही रहता है, कभी स्थिरतातक नहीं पहुँच पाता।

प्राचीन काल के किसी तर्कशून्य कवि ने शरीर-सेवा को अविवेकी मनुष्य का धंधा बताया था। तुमने आज उस विचार-धारा को उलट दिया है। तब शायद सुन्दर को सत्य तथा शिव के धुँधले दर्पण में देखने का श्रमसाध्य प्रयास किया जाता होगा।

तुम शरीर-सेवा को और सुन्दर वेशभूषा को विवेकशील मनुष्य का 'धर्म' मानते हो। तुम्हारी दलील है कि आत्म-देवता तो स्वच्छ और आकर्षक है ही; स्वच्छ और परिष्कृत रखकर सजावट तो देह-मन्दिर की ही करनी है।

शृंगार को तब शृंगार ही कहते थे। विकास के अभाव में यथार्थ देखने की ही तब परिपाटी थी,—और ही कुछ सिद्ध करने के पक्ष में तब

कोई जोरदार दलील सामने नहीं आई थी। तुमने श्रृंगार को 'संस्कार' का मनोज्ञ नाम दे दिया है, और इस नये नामकरण ने नासमझ आरोपियों के आगे तुम्हें नितान्त निर्भीक बना दिया है। शरीरोपासना के प्रति उपेक्षा का तुच्छ भाव रखनेवालों को शायद इसीलिए आज असंस्कारी कहा जाता है।

अस्पृश्यता पर धर्म की छाप लगाकर जैसे उसे शास्त्रीय प्रतिष्ठा दे दी गई थी, वैसे ही तुमने बाहरी वेशभूषा को, संस्कृति का वाहन बनाकर, सामाजिक प्रतिष्ठा के आसन पर बिठा दिया है।

मनोविकारों की व्याख्याएँ भी तुम्हारी कुछ निराली ही हैं। जैसे, सामान्य लोग जिसे 'अनबन' कहते हैं, उसके लिए तुम्हारा तर्कशुद्ध शब्द 'मतभेद' है, यद्यपि जो विकसित होते-होते अनबन से भी आगे संघर्षतक पहुँच जाता है।

एक कठिनाई है। यह कि तुम्हारे कई रूप हैं, और कई हैसियतें। दृष्टिकोण भी तुम्हारे अनेक हैं, यद्यपि आँख के यों दो ही कोण होते हैं। कमसमझ लोगों को अक्सर समझने या मतलब निकालने में भ्रम हो जाता है कि तुम्हारा स्वरूप असल में क्या है, किस हैसियत से तुम कब क्या मानते हो, किस समय क्या किस दृष्टिकोण से देखते हो ?

यद्यपि श्रद्धा या निष्ठा के लिए तुम्हारे अपने क्षेत्र में कोई प्रतिष्ठा का स्थान नहीं रहा, तोभी जहाँतक तर्क की स्वतंत्र सत्ता में श्रद्धा कोई बाधा नहीं पहुँचाती, वहाँतक उससे फायदा उठाने में तुम कोई हर्ज़ नहीं देखते।

श्रद्धा के फेर में पड़कर लोग जहाँ अतर्क्य वस्तुओं के भयंकर बहाव में बहे जा रहे थे, तहाँ तुमने उन्हें वस्तु-दर्शन की विविध दृष्टियाँ देकर स्वस्थ, शांत या जड़ बन जाने से बचा लिया है। जगत् इस महान् उपकार के लिए तुम्हारा सदा कृतज्ञ रहेगा।

धर्मोपासक से

धर्मोपासक ! तो तुम्हारी तर्कवाहिनी वाणी वृद्ध धर्म की क्या सारी ही प्राण-शक्ति को खींच लेगी ? तुम्हारी गूढ़ उपासना किस तरह धीरे-धीरे अज्ञातरूप से धर्म का काया-कल्प करती जा रही है ! अद्भुत ! अद्भुत !!

प्राचीन काल में तो इससे बिल्कुल उलटा ही हुआ था। तब के शोषक धर्म ने अपने उपासकों के जीवन-तत्व का एक-एक बिन्दु खींच लिया था। ऐसी निष्ठुर उपासना से उनका अस्थि-कंकालभर रह गया था। और उस अजीब प्रक्रिया को तब 'तप' कहा जाता था !

तब का उपासक या साधक प्राय: क्षीणकाय होता था ; जब कि तुम्हारा आज का यह धर्म क्षीणकाय दिखाई देता है।

तुम्हारी नई-नई शोधों ने सिद्ध कर दिया है कि तब का रक्त-शोषक बलिष्ठ धर्म भी अरक्षित था ; जब कि आज का शोषित दुर्बल धर्म सुरक्षित है। तुम मानते हो कि असल बल तो 'उपासक' का बल है, धर्म का 'अपना' बल कोई बल नहीं।

धर्म का शोषण कर तुमने अरक्षित धर्म को संरक्षण दिया है। तुम्हारे कृतज्ञता-पाश में धर्म कुछ ऐसा बँध गया है कि तुम्हारे आदेशों से वह कभी बाहर जा नहीं सकता।

पहले के उपासकों पर शासन धर्म का रहता था ; आज शासन उसपर तुम उपासकों का है, और इसी करण वह पूर्ण सुरक्षित है।

तुम्हारी शोधों और प्रयोगों के पूर्व धार्मिक जगत् के लोग मानते थे कि धर्म स्वत: अपने आपसे रक्षित है। कहते हैं, धर्म की रक्षा तब धर्म से ही होती थी।

पर यह उनका भ्रम ही सिद्ध हुआ। साथ ही, इसमें कोई पुरुषार्थ भी तो नहीं था। यह श्रेष्ठ श्रेयस्कर आविष्कार तो तुमने किया कि धर्म की रक्षा अधर्म से भी हो सकती है, और हो रही है।

तुमने अनुभव किया कि तमस् और प्रकाश के बीच क्यों खामखा वैर या विरोध रहे। तुमने अपने धर्म-बल से दोनों को एक दूसरे की छायातले सहज ही प्रतिष्ठित कर दिया !

प्राचीन धर्म-शोधकों के तो प्राय: सारे ही प्रयत्न उलटे हुआ करते थे ; उनकी साधना जैसे एक अतुकान्त कविता थी। और फिरभी उसे वे सनातन-सिद्ध कहा करते थे ! जैसे, वे अवैर से वैर का, अक्रोध से क्रोध का और अहिंसा से हिंसा का शमन करना सिखाते थे !

मूल भूल उनकी तब, शायद, यह रही होगी कि अक्रोध, अवैर, अहिंसा-सरीखी नकारात्मक वस्तुओं को उन्होंने 'धर्म' मान लिया था। सहज को छोड़कर असहज की ओर दौड़ना, भला, यह भी कोई धर्म-साधना है ?

इसी तरह एक और ग़लत रास्ता अँधेरे में उन लोगों ने पकड़ लिया

था। यह कि अर्थ और काम को भी वे धर्म से ही साधते थे ; जब कि तुम्हारी धर्म-साधना अर्थ और काम के द्वारा सम्पादित होती है।

तब के लोग तो धर्म द्वारा असल में अपने आपकी रक्षा करना चाहते थे ; धर्म को उन्होंने इतना बलिष्ठ मान रखा था, कि उसकी रक्षा की उनको कुछ भी पर्वा नहीं थी।

उनकी दृष्टि में अरक्षित धर्म अपनी व्याख्या स्वयं निर्माण करता था, जब कि उसकी व्याख्या आज तुम्हारी स्वरचित युक्तियों द्वारा निर्णीत की जाती है। यह क्या कोई मामूली विकास हुआ है ?

तर्कबल के अभाव में तब कोरे आचरण से काम लिया जाता था। 'धर्म चर' का एक घुँधला-सा दीपक उनके हाथ में रहता था। कोरे शुष्क आचरण पर वे तर्क-दुर्बल साधक भारी ज़ोर दिया करते थे।

तब फिर वह अरक्षित धर्म अपने जड़ साधकों को किस प्रकार समृद्ध और सुखी बना सकता था ? तभी तो वे 'ऋषि-संज्ञक' विचित्र प्राणी पर्ण-कुटियों और गिरि-कंदराओं में वन्य मनुष्यों या पशुओं की तरह पड़े रहते थे। ऐसे क्षीणकाय दरिद्रों की संपदा कौपीन और कमंडल के सिवाय और हो ही क्या सकती थी ?

तुम मानते हो कि धर्म तो मूलतः अशक्त है—उसमें इतनी शक्ति कहाँ कि वह स्वयं अपनी रक्षा कर सके ? इस तर्कशुद्ध मान्यता में भला कौन ग़लती निकाल सकता है ?

नीति-बल से क्या कभी धर्म की रक्षा हुई है ? वह तो युक्तिबल से और शरीर-बल से ही होती है।

तुम्हारा यह कहना दुरुस्त है कि वे दूसरे धर्मोपासक भी तो ऐसा ही कहते और करते हैं। वे भी तो द्वेष, द्रोह, कूट, भेद और हिंसा को धर्मानुष्ठान में आलिंगन देते हैं। ईश्वर उनके वश में है,— उनके ऊपर वह आशीर्वाद के विविध फूल बरसाता है, और उनके शत्रुओं पर नरक की आग।

किस काम का वह धर्म, जो अर्थवाद में हमारा समर्थक और साधक

न हो, जो काम-कांचन के निष्ठुर निग्रह से उपलब्ध होता हो, और हमारे शत्रुओं को जो हमारे अपने शब्दों में अभिशाप न दे सके ?

तुम्हें लगता है कि धर्म इसीलिए खतरे में पड़ गया था कि राज-नीतिक स्वार्थों में उसका पूरा प्रयोग नहीं हुआ ; द्वेष और हिंसा से उसे यथेष्ट पोषण नहीं मिला।

तुम्हारी यह धारणा सर्वथा सही है, कि सत्यता, दया, क्षमा और अहिंसा ने धर्म को निर्वीर्य कर डाला है, और यही कारण है कि उसका अस्तित्त्वतक आज खतरे मे पड़ गया है।

परन्तु तुमने निश्चय ही उसे विनाश के मुख में जाने से बचा लिया। अच्छा हुआ कि तुमने द्वेष का संजीवन-बीज बो दिया और तुम्हारे सत्-प्रयत्न से बुद्धि-भेद पैदा हो गया। समता के प्रति उपेक्षा पनप उठी है। मनुष्य में प्रतिहिंसक वृत्तियाँ जाग रही हैं। राज-नीति और अर्थवाद ने निष्प्रभ दुर्बल धर्म को अब तेजस्वी और शक्तिशाली बनाने का निश्चय कर लिया है।

तुम्हारे मत से धर्म के ह्रास का एक ज़बर्दस्त कारण उसके साधकों की 'निष्काम' या 'अहेतुक' साधना भी तो है।

प्रथम तो दया को धर्म का मूल घोषित करना, और फिर उसका प्रयोग करते हुए किसी प्रकार का कोई 'हेतु' न रखना—ऐसी निरर्थक साधना से आखिर लाभ ही क्या ?

तुम्हें यह सत्य स्पष्ट हो गया है कि फल या फायदे का विचार किये बग़ैर धर्म का आचरण कर बैठना निरी मूर्खता है।

अनासक्ति का उपदेश करनेवाला धर्म आसमानी कल्पना की ब्राह्मी संपत्ति को भले ही घर-बैठे प्राप्त करादे, परन्तु प्रत्यक्ष में तो ऐसा धर्म चार पैसे का भी फ़ायदा नहीं करा सकता।

इसीलिए तुम जब धर्म की रक्षा का जिम्मा लेते हो, तब सबसे पहले उसे 'लाभवाद' की अचूक कसौटी पर कस लेते हो।

काफ़ी है इतना कि तुम्हारा साध्य तुम्हारी अपनी मान्यता या विश्वास के अनुसार शुद्ध है। तुम्हें चिंता नहीं कि साधन तुम्हारे शुद्ध हैं या अशुद्ध। धर्म बच जायेगा, तो साधन तो अपने-आप शुद्ध हो जायेंगे। पुराना विचार यह ग़लत है कि धर्म की दृष्टि से देखा जाये, तो साध्य और साधन में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं। कतिपय व्यवहार-मूढ़ ऋषियों की ही यह विचित्र विचार-धारा रही होगी।

मंत्रों के जो स्रष्टा या दृष्टा थे उनका शायद व्यवहार-व्यापार से बहुत कम संबंध रहा होगा। उन्हें इस बात का पूरा पता नही था कि किन-किन साधनों से धर्मोपासक को लाभ पहुँच सकता है। कम-से-कम तुम पुरातत्त्व-शोधकों को कहीं भी ऐसा कोई आर्ष प्रमाण नहीं मिला।

तुमने देख लिया कि धर्म का बहुत अधिक आग्रह रखना अच्छा नहीं। आग्रह रखना तो तुम्हारी दृष्टि में जड़ता का लक्षण है; धर्म से चिपटे रहने में बुद्धिमानी नहीं। धर्मोपासना तो एक सुविधा की चीज़ होनी चाहिए,—ऐसी कि, उसे चाहे जब हल्की मुट्ठी से पकड़ा जा सके और चाहे जब त्यागा भी जा सके।

सामान्य धर्म को कुंठित बुद्धिवाले आरण्यकों ने देश-काल-परिस्थिति की परिधि से बाहर माना था, और उससे सदा ही चिपटे रहने का आदेश दिया था। निश्चय ही अपरिपक्क बुद्धि की सूझ रही होगी यह। विशेष धर्म के प्रति किसी अंशतक आग्रह रखने की बात तो कुछ समझी भी जा सकती है, किन्तु यह सामान्य धर्म के प्रति आग्रह रखने की बात तो अद्भुत ही है।

तुम्हारी धर्मोपासना तो तुम्हारी अपनी निर्मित परिभाषा और तुम्हारे ही अपने भाष्य का अनुसरण करेगी, कारण कि उसमे चेतना है, गुंजाइश है और खासी अच्छी सुविधा है।

अतः धर्मोपासक ! तुम्हारा ही मार्ग राजमार्ग है।

चिकित्सक से

चिकित्सक ! तुम्हें सारा जगत् जैसे एक-न-एक रोग से ग्रस्त ही नज़र आता है। मनुष्य-शरीर का पुर्ज़ा-पुर्ज़ा तुम्हें ढीला-ढाला और अस्तव्यस्त सा ही दीखता है। और उनको कसने की या फिर से अपनी-अपनी जगह पर बिठाने की तुम्हें अहर्निश चिंता रहती है। मगर ग़नीमत है कि उस सतत चिंता में भी तुम्हें आनन्द का ही अनुभव होता है।

निरन्तर विविध रोगों के सम्पर्क में रहते-रहते तुम्हें आरोग्य का शायद कभी भान भी नहीं होता होगा। स्वस्थ मनुष्य शायद तुम्हें अजनबी-सा ही लगता होगा।

मनुष्य निसर्ग के संसर्ग में रहे, यह तुम्हें शायद ही पसन्द हो! तुम नहीं चाहते कि सर्वसृष्टि-श्रेष्ठ मानव-प्राणी वन्य पशुओं का अनुकरण करे। तुम मानते हो कि प्रकृति के सहारे स्वस्थ बने रहने में कोई तारीफ़ नहीं, कोई पुरुषार्थ नहीं। पुरुषार्थ तो तब, जबकि निसर्ग के नियमों की अवज्ञा कर रोगों को आमन्त्रित किया जाये और फिर चिकित्सा के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा उनका अच्छी तरह डटकर मुक़ाबिला हो।

और, निसर्ग की अवहेलना करने में मनुष्य को तुम, खास करके शहरों में, खासा प्रोत्साहन देते हो। तुम्हारे बल पर मनुष्य आज प्रकृति के क़ानून का मूल्य कुछ भी नहीं आँक रहा।

पशु में इतना साहस कहाँ कि वह प्रकृति के विरुद्ध ज़रा भी जा सके। उस अपूर्ण प्राणी में अबभी इतना बौद्धिक विकास नहीं हो पाया कि स्वास्थ्य-रक्षक नियमों को वह धता बता सके। दुर्भाग्य है उसका, जो उसे निर्भय बनानेवाला कोई चिकित्सक नहीं मिला।

और यह मनुष्य निर्भय कैसे बन गया ? क्योंकि पहले तुमने क़दम-क़दम पर उसके अन्दर भय का संचार किया,—जैसे धूप और सरदी मे खुले बदन घूमना खतरे से खाली नहीं; ओस के नीचे सिर खोलकर सोना हानिकारक है; पानी, हवा और मिट्टी का यह अधिक संसर्ग भयावह है।

मनुष्य ने विकास को पाकर यह भारी बुद्धिमानी का काम किया कि प्रकृति की गोद को छोड़कर वह तुम्हारी निर्भय शरण में आ बैठा।

और यही कारण है कि तुम्हारा अस्तित्व आज उसे अत्यन्त आवश्यक हो गया है; मानव-जीवन के वस्तुतः तुम एक अविच्छिन्न अंग बन गये हो।

सद्भाग्य से तुम्हें ऐसे भी कुछ समझदार मिल जाते हैं जिन्हें कि किसी-न-किसी दवा का नियमित सेवन करने, या वर्ष में एक-दो बार शरीर-यन्त्र की आवश्यक परीक्षा कराने की तुम सलाह देते रहते हो।

परन्तु शिक्षित और श्रद्धालु लोग तो खुद ही नियत भेंट लेकर तुम्हारे द्वार पर नेक सलाह लेने पहुँच जाते हैं।

तुम जब रोगी के शरीर-यन्त्र का परीक्षण करते हो, तब तुम्हारी मुख-मुद्रा गम्भीर हो जाती है। जब तुम उसे परीक्षण का सुपरिणाम सुनाते हो, उसका चेहरा सफ़ेद पड़ जाता है। उसे प्रतीत होने लगता है कि उसके फड़फड़ाते हुए प्राण-पक्षी अब तुम्हारे ही हाथ में हैं।

नये-नये रोगों की खासी लंबी फ़ेहरिस्त पेश करके उसकी मनोव्यथा बढ़ाने में तुम कुछ उठा नहीं रखते। कभी तो वह ध्यान करता है आसन्न मृत्यु का और कभी तुम्हारा।

कभी वह तुममेंसे किसी एक विशेषज्ञ का दरवाज़ा खटखटाता है, तो कभी किसी दूसरे का। वह एक रोग बतलाता है, दूसरा कुछ और ही। एक चीर-फाड़ कराने की सलाह देता है, दूसरा दाँत उखड़वाने की और तीसरा सारा काम-काज छोड़कर समुद्र-तट पर या किसी पहाड़ पर पूर्ण विश्राम लेने की।

रोगी तब अजीब चक्कर में पड़ जाता है। आधी इसकी सुनता है, आधी उसकी। बाद में कभी-कभी यह भी सिद्ध होता है कि रोग उसे कुछ भी नहीं था—उसकी एक-एक हड्डी तो तुम्हारे प्रदत्त चिंता-रोग से ही घुल रही थी।

फिर भी शरीर-यन्त्र के कितने ही पुर्जों की मरम्मत, अपना घरबार बेचकर भी, कराने के लिए वह श्रद्धावान् मरीज़ तैयार हो जाता है।

शरीर के अन्दर का छाया-चित्र लेकर कभी-कभी तुम रोगी का विषैला अंग काट डालने की निस्संकोच सलाह दे डालते हो, किन्तु कोई-कोई ऐसे मूढ़ग्राही होते हैं कि मृत्यु का जोखम मोल लेकर भी मरीज

का पैर या हाथ कटवाने को राज़ी नहीं होते ! देखा गया है कि कभी-कभी मामूली तेल-मालिश से ही वह अच्छा हो जाता है, और जिंदगी-भर के लिए अपंग हो जाने के परमसुख से उसे वंचित रह जाना पड़ता है।

पर कोई दुर्भाग्य का मारा अपने हाथ या पैर से अथवा प्राणों से ही हाथ धो बैठे, तो उसके तुम थोड़े ही जवाबदेह होगे। तुम्हारे लिए तो इतना ही काफ़ी है कि तुम्हारी परीक्षा अद्यतन वैज्ञानिक शोध का परिणाम थी और तुम्हारा हेतु भी परमशुद्ध था।

तुम्हारे सद्भाग्य से कभी कोई संक्रामक रोग फैलता है, तो तुम्हें क्या तब मंगलोत्सव का अनुभव नहीं होता ? किसान को जैसे वांछित समय पर वर्षा होने से महान् आह्लाद होता है, कुछ-कुछ वैसा ही आनन्द और उल्लास तुम्हें संक्रामक रोगों के भयंकर प्रकोप से होता होगा। उन दिनों घर-घर तुम्हारा स्वागत-सत्कार होता है।

कितने ही घरों में तुम्हारी हितकारी सलाह की भारी क़द्र होती है। कैसे पानी से नहायें, कहाँ सोयें, क्या खायें, क्या पीयें, क्या पहनें आदि गूढ़तम प्रश्नों पर वे तुम्हारी सलाह लेना, क्योंकि, वे बहुत ज़रूरी समझते हैं।

उनका स्वास्थ्य मकड़ी के जाले के जैसा नाज़ुक बन जाता है।

संयत जीवन का वहाँ प्रवेश निषिद्ध हो जाता है। परिणामतः तुम्हारे कई शुभचिंतक मित्र वहाँ पहुँच जाते हैं,—जैसे मंदाग्नि, मधुमेह, रक्तचाप, दमा, हृद्रोग, राजयक्ष्मा आदि।

तब दिन में कई बार ताप-मापक यंत्र का प्रयोग होने लगता है। दीवार पर तालिका टाँग दी जाती है, मल-मूत्र की परीक्षा शुरू हो जाती है, शरीर काँटे पर बार-बार तोला जाता है, अन्तर्चित्र उतरने लगते हैं, आलमारी शीशियों से भर जाती है—सारा ही वातावरण भयोत्पादक बना दिया जाता है।

दवाखानों और अस्पतालों की संख्या जिस तरह दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है, उसे देखकर स्वस्थ मानव-सभ्यता के विकास का माप आसानी से किया जा सकता है।

चिकित्सालयों के संचालकगण जब बड़े गर्व से सुनाते हैं कि उनके मरीजों की संख्या क्रमशः कितनी बढ़ गई है, तब तुम्हारे अथक, अकथ प्रयत्नों का ठीक-ठीक पता चलता है कि तुमने अस्वस्थ मानव-समाज को कितना अधिक आरोग्य प्रदान किया है।

तुम्हारा अद्‌भुत गणित रोगों की वृद्धि और दवाइयों की खपत से समाज के आरोग्य का माप निकालता है।

किसी-न-किसी व्याधि से मनुष्य पहले भी मरता था; पर मरना तब वह जानता नहीं था। उसे या उसके आसपासवालों को मृत्यु के आगमन का शायद कुछ-कुछ भान हो जाता था। तब औषधियों की उपेक्षा कर दी जाती थी, और ईश्वर को ही वैद्य का स्थान दे दिया जाता था। रोगी की चारपायी के पास भगवान् का नाम जपने लोग बैठ जाते थे, और दान-पुण्य होने लगता था।

किन्तु तुम तो आज दूसरा ही दृश्य उपस्थित कर देते हो। आखिरी साँसतक तुम प्रयत्नशील रहते हो। तुम्हें यह पसन्द नहीं कि रोगी शांति-पूर्वक प्राण छोड़े।

उस काल तुम आक्सिज़न का संचार करते हो। तुम मानते हो कि धर्म-ग्रन्थों के पाठ से या ईश्वर के नाम-स्मरण से तुम्हारे रचे सुन्दर वातावरण में खलल पहुँचता है। उस प्रयाणशील प्राणी के सामने तुम्हारी आकृति घूमती रहती है और कदाचित् तब तुम्हे ही वह भय से आक्रान्त होकर देह से जीव का नाता छुड़ानेवाला समझ बैठता हो !

औंर, अब अपने आपसे

और, अब कुछ अपनी भी तो कह डाल। तू खुद किस बात में किसीसे कम है? उन सबका इतना स्तुति-गान किया, तो कुछ अब अपना भी तो कर ले। आत्म-स्तुति को तूने कभी उपेक्षणीय तो माना नहीं।

जिन बहुत-से सद्गुणों को निर्दयतापूर्वक ग़लती से 'लोक-निन्दित' ठहरा दिया गया है, उन्हें भी तेरे साधु हृदय ने प्रीतिपूर्वक श्रंगीकार किया है। तेरी इस सहज सहृदयता की, ऐसा कौन है, जो स्तुति नहीं करेगा ?

तेरे श्रन्तर में श्रसंतोष की जो श्राग सुलग रही है, उसपर प्रतिक्षण तू उपेक्षा का पानी डालता रहता है। विचारों का वहाँ केवल धुश्राँ ही उठता है, श्रौर उस धुएँ को तू बड़ी होशियारी से इर्द-गिर्द के वातावरण में इधर-उधर उड़ा देता है।

उस श्राग से तेरा श्रन्तर कहीं जल न जाये, इस बात का तुझे सदा ध्यान रहता है, श्रौर इसीलिए श्रपनी खुद की व्याख्यावाली शान्ति तुझे श्रत्यन्त प्रिय है।

लोग मन में कहते होंगे, कि तुझे निवृत्ति का मार्ग पसन्द है, श्रौर तू स्वयं भी कभी-कभी ऐसा ही कह बैठता है। पर तेरी विनय का कुछ पार ! तू कितनी ही लोग-निन्दित प्रवृत्तियों पर श्रासक्त है, फिरभी तू इतना श्रधिक विनयशील बन गया है कि श्रपने उस महान् गुण को कभी किसीपर प्रकट ही नहीं होने देता।

तू किसीका भी जी नहीं दुखाना चाहता, तभी तो जिन बातों पर तेरा तनिक भी विश्वास नहीं, उनपर भी तू दूसरों के प्रीत्यर्थ श्रद्धाभाव प्रकट कर दिया करता है !

तू सचमुच स्वात्मत्यागी है। जिन लोगों से तेरा हार्दिक मतभेद होता है, उन्हें भी प्रसन्न रखने के लिए श्रपनी श्रात्मा की श्रावाज़ पर तू ध्यान नहीं देता। श्रपरिचित मतों के पीछे भी तू पैर घसीटता रहता है।

श्रन्तरात्मा कभी-कभी तेरी कटु श्रालोचना कर बैठती है, तो तू उसपर कान नहीं देता, क्योंकि तू श्रपनी श्रवणेन्द्रिय पर कम-से-कम उस श्रवसर पर श्रवश्य विजय पा लेता है।

परनिंदा का स्वाद कटु कहा गया है, पर तू तो श्रस्वादव्रती ठहरा न ? इसलिए रस तुझे उस तीखी कड़वाहट में भी मिलता है।

तू क्योंकि आत्मोसाधक ठहरा, आत्मोपासक ठहरा, अतः आत्मनिंदा सुनकर तुझे कभी क्रोध आ जाये, तो उसमें ऐसा क्या अनुचित हुआ ?

तेरी गुणग्राहकता से भला कौन इन्कार कर सकता है ? जब तू अपना स्तुति-पाठ श्रवण करता है, तब ऐसा भाव प्रकटाता है, मानों संकोच के मारे गड़ा जा रहा है, पर अन्दर-अन्दर तू बेहद पुलकित और हर्षविह्वल हो जाता है ।

कितना बड़ा अहिंसक है तू, जो तिरस्कारपात्र गुणों को भी तूने अपनी अन्तर्गुहा मे प्रेम का स्थान दे रखा है ! यह तेरी सादगी ही है कि लोक-दृष्टि से छिपाकर अपने जीवन की हजार छेदवाली चादर को बड़ी ममता से ओढ़े हुए बाज़ार में तू बैठा है । इस चतुराई पर तू अपने आप मुग्ध है, कि दूसरों को अपनी हज़ार छेदवाली चादर का कभी पता नहीं लगने देता । लोग वे तेरी मैली चादर को भी धौली समझ रहे हैं ।

तुझे अपरिग्रह पर प्रवचन देना बहुत प्रिय है, यद्यपि तू अपने पास ढेर-का-ढेर रखता है । अपनी आवश्यकताओं की मर्यादा तूने ऐसी बना रखी है, जो तेरी दृष्टि में परिग्रह का स्पर्श भी नहीं करती है ।

जब कभी तेरे करुणार्द्र हृदय मे दो बूँद दूध के लिए कलपते अस्थि-पंजर बच्चों का ध्यान आ जाता है, तब तेरे सेवापूत आँसू तेरी दूध की प्याली में टपक पड़ते हैं । पर अपनी करुणशीलता क़ायम रखने के लिए तुझे वह खारा दूध भी अनासक्तिपूर्वक पीना पड़ता है ।

तू दूसरों के लिए कष्ट उठाना खूब जानता है । जैसे, दूसरों की आलोचना करने में कितना ही कष्ट उठाना पड़े, स्वधर्म समझकर उसमें तू क्लेश नहीं मानता । तेरा कोमल हृदय नहीं चाहता कि दूसरे तेरी आलोचना करने का कष्ट उठायें ।

प्रयत्नशीलता में तेरा अटूट विश्वास है । अपने संकल्पों के धागे को तू रोज़ ही तोड़ता है, और रोज़ उसे बार-बार जोड़ने का प्रयत्न करता है ।

अद्भुत है रे, तेरी जीवन-यात्रा ! तू जाना तो चाहता है उत्तर

दिशा को, और पैर रखता है दक्षिण दिशा की ओर।

दूसरों की संग्रह-वृत्ति को देखकर तेरे हृदय में आग-सी जलती रहती है कि वे संयमी और वैराग्यशील नहीं हैं। इस आग को तू यज्ञ की पवित्र अग्नि मानता है। पर तेरे सामने यदि संग्रह का शीतल साधन आ जुटे और वह तेरी अन्तर्ज्वाला को बुझादे, तो तुझे उससे असंतोष नहीं होगा।

तू अपने विचारों में कभी स्थिरता या जड़ता का प्रवेश नहीं होने देना चाहता, इसीलिए तेरे विचार सदा पारे की तरह कंपित या अस्थिर रहते हैं।

त्याग में तू वही रसास्वाद पाता है, जो कि मनुष्य को मिर्च में मिलता है। तेरी समझ में नहीं आता कि मुमुक्षुओं ने त्याग को मधुर स्वादवाला आखिर क्यों कहा था। त्याग द्वारा तामसी वृत्ति को उत्तेजित करके तूने कोई कम धर्म-साधना नहीं की।

तेरा यह गजब का साहस ही है, कि गाँठ में अनुभवों और विचारों की कुछ भी पूँजी नहीं, फिरभी बोलने और लिखने के व्यापार में तू खूब दूरतक जाना चाहता है।

लोग जब कहते हैं कि तेरा जीवन-रस लोक-सेवा में प्रतिक्षण खर्च हो रहा है, तो वास्तविकता को जानते हुए भी उनकी बात को तू काटता नहीं, क्योंकि तेरी दृष्टि में ऐसा करना अविनय है—बल्कि हिंसा-कृत्य है।

किन्तु जहाँ तू आत्म-निन्दा सुनता है, वहाँ उसका काटना तेरा धर्म हो जाता है। उसे तू शुद्ध अहिंसा मानता है। धर्म का तत्त्व बड़ा गहन है, और उसकी गहनता को तूने इस प्रकार हृदयंगम कर लिया है।

तू उस प्राचीन सूत्र को नहीं मानता कि त्याग का परिणाम संतोष है। तू तो त्याग का शीतल रस पान करते समय ईर्ष्या की आग को अपने अन्तस्तल में प्रज्वलित कर लेता है।

दूसरों के कितने ही नये-पुराने विचारों और शोधों को तू इतना अधिक प्यार करता है, कि उनपर अपने नाम की छाप लगा देता है—वे उनके न रहकर तेरे अपने खुद के हो जाते हैं।

फिर उदार तू इतना अधिक है कि छोटी-छोटी चीज़ों को भी बड़ी-से-बड़ी समझ लेता है, पर अपने तईंतक ही तूने इस अति उदारता को परिसीमित रखना धर्म समझा है। जैसे, तू साधारण-सा ही पठित है, ज्ञान तेरा नगण्य-सा ही है, अनुभव का भी लगभग अभाव ही है, फिर-भी तू अपने आपमें कोई हीनता नहीं देखता। 'अहं ब्रह्म' वादी की भाँति तू अपने आपको समस्त विद्या, ज्ञान और पूर्ण अनुभव का मूलस्रोत समझता है।

जब तुझे किसी प्रश्न का कोई ठीक-ठीक जवाब नहीं सूझता, तब तू गम्भीर-सी मुद्रा बना लेता है। प्रश्नकर्त्ता समझते हैं कि तू किसी गहरे चिंतन में डूबा हुआ है और तेरा काम बन जाता है।

जब तू एक वर्ग या समूह की टीका-टिप्पणी करता है तब इतना तो तुझे मालूम रहता ही है कि उस वर्ग में भी कुछ ऐसे हैं, जो तेरी टीका-टिप्पणी से परे हैं। फिरभी तेरी लपेट में कभी-कभी अपवादरूप अल्प-संख्यक भी आ जाते हैं।

पर तू स्वयं अल्पसंख्यकों के दल में है या कि बहुसंख्यकों के दल में तू बड़ी चतुराई से कभी उसमें मिल बैठता है, तो कभी इसमें।

तूने जिनकी भी टीका की प्रायः प्राचीनों को सभी जगह बख्श दिया है। पर तुझ-जैसे तो जैसे अब हैं, तैसे ही तब भी थे इस तथ्य को क्या तू नहीं जानता ?

जानता हो या न जानता हो, अब अधिक बकवास मत कर। जिस-जिसके प्रति गुस्ताखी प्रकट की है, उन सबसे अब तो तू प्रेमपूर्वक बिदा ही ले।